Mandukyopanishad-Sanskrit

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

१. शान्तिपाठ २१

आगमप्रकरण

२. भाष्यकारका मङ्गलाचरण २२
३. सम्बन्धभाष्य २३
४. ॐ ही सब कुछ है २६
५. ओंकारवाच्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता २७
६. आत्माका प्रथम पाद—वैश्वानर २९
७. आत्माका द्वितीय पाद—तैजस ३२
८. आत्माका तृतीय पाद—प्राज्ञ ३४
९. प्राज्ञका सर्वकारणत्व ३६
१०. एक ही आत्माके तीन भेद ३७
११. विश्वादिके विभिन्न स्थान ३८
१२. विश्वादिका त्रिविध भोग ४४
१३. त्रिविध भोक्ता और भोग्यके ज्ञानका फल ४५
१४. प्राण ही सबकी सृष्टि करता है ४६
१५. सृष्टिके विषयमें भिन्न-भिन्न विकल्प ४७
१६. चतुर्थ पादका विवरण ५०
१७. तुरीयका स्वरूप ५३
१८. तुरीयका प्रभाव ५९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१९. विश्व और तैजससे तुरीयका भेद ………	……… ६०
२०. प्राज्ञसे तुरीयका भेद ………	……… ६१
२१. तुरीयका स्वप्न-निद्राशून्यत्व ………	……… ६३
२२. बोध कब होता है? ………	……… ६५
२३. प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव ………	……… ६६
२४. गुरु-शिष्यादि विकल्प व्यावहारिक है………	……… ६७
२५. आत्मा और उसके पादोंके साथ ओंकार और उसकी मात्राओंका तादात्म्य………	……… ६८
२६. अकार और विश्वका तादात्म्य ………	……… ६९
२७. उकार और तैजसका तादात्म्य ………	……… ७०
२८. मकार और प्राज्ञका तादात्म्य ………	……… ७२
२९. मात्राओंकी विश्वादिरूपता ………	……… ७३
३०. ओंकारोपासकका प्रभाव ………	……… ७५
३१. ओंकारकी व्यस्तोपासनाके फल ………	……… ७५
३२. अमात्र और आत्माका तादात्म्य ………	……… ७६
३३. समस्त और व्यस्त ओंकारोपासना ………	……… ७७
३४. ओंकारार्थज्ञ ही मुनि है ………	……… ८१

वैतथ्यप्रकरण

३५. स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका मिथ्यात्व ………	……… ८२
३६. जाग्रद्दृश्य पदार्थोंके मिथ्यात्वमें हेतु ………	……… ८५
३७. स्वप्नमें मनःकल्पित और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं ………	……… ९१

विषय पृष्ठ-संख्या

जाग्रत्में भी दोनों प्रकारके पदार्थ
मिथ्या हैं ९२
इन मिथ्या पदार्थोंकी कल्पना करनेवाला कौन है? ९२
इनकी कल्पना करनेवाला और इनका साक्षी आत्मा ही है ९३
पदार्थकल्पनाकी विधि ९३
आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं ९४
आन्तरिक और बाह्य पदार्थोंका भेद केवल इन्द्रियजनित है ९६
पदार्थकल्पनाकी मूल जीवकल्पना है....... .... ९६
जीवकल्पनाका हेतु अज्ञान है ९८
अज्ञाननिवृत्ति ही आत्मज्ञान है ९९
विकल्पकी मूल माया है १००
मूलतत्त्वसम्बन्धी विभिन्न मतवाद १०१
आत्मा सर्वाधिष्ठान है ऐसा जाननेवाला ही परमार्थदर्शी है १०४
द्वैतका असत्यत्व वेदान्तवेद्य है १०६
परमार्थ क्या है? १०७
अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है ११२
तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें नानात्वका
अत्यन्ताभाव है ११४
इस रहस्यके साक्षी कौन थे? ११५
तत्त्वदर्शनका आदेश ११६
तत्त्वदर्शीका आचरण ११७
अविचल तत्त्वनिष्ठाका विधान ११८

अद्वैतप्रकरण

भेददर्शी कृपण है १२१

विषय		पृष्ठ-संख्या
५९. अकार्पण्यनिरूपणकी प्रतिज्ञा	....	..... १२२
६०. जीवकी उत्पत्तिके विषयमें दृष्टान्त	....	..... १२४
६१. जीवके विलीन होनेमें दृष्टान्त	....	..... १२६
६२. आत्माकी असंगतामें दृष्टान्त	....	..... १२६
६३. व्यावहारिक जीवभेद	....	..... १३२
६४. जीव आत्माका विकार या अवयव नहीं है	....	..... १३३
६५. आत्माकी मलिनता अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है	....	..... १३४
६६. आत्मैकत्व ही समीचीन है	....	..... १३८
६७. श्रुत्युक्त जीव-ब्रह्मभेद गौण है	....	..... १४०
६८. दृष्टान्तयुक्त उत्पत्ति-श्रुतिकी व्यवस्था	....	..... १४२
६९. त्रिविध अधिकारी और उनके लिये उपासनाविधि		..... १४५
७०. अद्वैतात्मदर्शन किसीका विरोधी नहीं है	....	..... १४७
७१. अद्वैतात्मदर्शनके अविरोधी होनेमें हेतु	....	..... १४९
७२. आत्मामें भेद मायाहीके कारण है	....	..... १५१
७३. जीवोत्पत्ति सर्वथा असंगत है	....	..... १५२
७४. उत्पत्तिशील जीव अमर नहीं हो सकता	....	..... १५३
७५. सृष्टिश्रुतिकी संगति	....	..... १५४
७६. श्रुति कार्य और कारण दोनोंका प्रतिषेध करती है		..... १५८
७७. अनात्मप्रतिषेधसे अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है		..... १६१
७८. सद्वस्तुकी उत्पत्ति मायिक होती है	....	..... १६२
७९. असद्वस्तुकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है	....	..... १६४
८०. स्वप्न और जागृति मनके ही विलास हैं	....	..... १६५
८१. तत्त्वबोधसे अमनीभाव	....	..... १६७
८२. आत्मज्ञान किसे होता है ?	....	..... १६८

विषय		पृष्ठ-संख्या
शान्तवृत्तिका स्वरूप	....	.... १६९
सुषुप्ति और समाधिका भेद	....	.... १७०
ब्रह्मका स्वरूप	....	.... १७२
अस्पर्शयोगकी दुर्गमता	....	.... १७६
अन्य योगियोंकी शान्ति मनोनिग्रहके अधीन है	....	.... १७७
मनोनिग्रह धैर्यपूर्वक ही हो सकता है....		.... १७९
मनोनिग्रहके विघ्न	....	.... १७९
मन कब ब्रह्मरूप होता है?	....	.... १८३
परमार्थसत्य क्या है?	....	.... १८५

अलातशान्तिप्रकरण

नारायण-नमस्कार	....	.... १८८
अद्वैतदर्शनकी वन्दना	....	.... १८९
द्वैतवादियोंका पारस्परिक विरोध	....	.... १९१
द्वैतवादियोंद्वारा प्रदर्शित अजातिका अनुमोदन		.... १९२
स्वभावविपर्यय असम्भव है	....	.... १९३
जीवका जरामरण माननेमें दोष	....	.... १९६
सांख्यमतपर वैशेषिककी आपत्ति	....	.... १९७
हेतु और फलके अन्योन्यकारणत्वमें दोष		.... २००
अजातवाद-निरूपण	....	.... २०६
सदसदादिवादोंकी अनुपपत्ति	....	.... २०७
हेतु-फलका अनादित्व उनकी अनुत्पत्तिका सूचक है	....	.... २०९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१०३. बाह्यार्थवाद-निरूपण	.... २१०
१०४. विज्ञानवादिकर्तृक बाह्यार्थवादनिषेध	.... २१२
१०५. विज्ञानवादका खण्डन	.... २१६
१०६. उपक्रमका उपसंहार	.... २१८
१०७. प्रपञ्चके असत्यत्वमें हेतु	.... २२०
१०८. स्वप्नका मिथ्यात्वनिरूपण	.... २२१
१०९. स्वप्न और जाग्रत्‌का कार्य-कारणत्व व्यावहारिक है	.... २२२
११०. जगदुत्पत्तिका उपदेश किनके लिये है?	.... २२७
१११. सन्मार्गगामी द्वैतवादियोंकी गति	.... २२८
११२. उपलब्धि और आचरणकी अप्रमाणता	.... २२९
११३. परमार्थ वस्तु क्या है?	.... २३०
११४. विज्ञानाभासमें अलातस्फुरणका दृष्टान्त	.... २३२
११५. आत्मामें कार्य-कारणभाव क्यों असम्भव है?	.... २३६
११६. हेतु-फलभावके अभिनिवेशका फल	.... २३७
११७. हेतु-फलके अभिनिवेशमें दोष	.... २३९
११८. जीवोंका जन्म मायिक है	.... २४०
११९. आत्माकी अनिर्वचनीयता	.... २४२
१२०. द्वैताभावमें स्वप्नका दृष्टान्त	.... २४३
१२१. अजाति ही उत्तम सत्य है	.... २४७
१२२. चित्तकी असंगता	.... २४८
१२३. व्यावहारिक वस्तु परमार्थतः नहीं होती.......	.... २४९
१२४. आत्मा अज है—यह कल्पना भी व्यावहारिक है	.... २५०
१२५. द्वैताभावसे जन्माभाव	.... २५०
१२६. विद्वान्‌की अभयपदप्राप्ति	.... २५३

विषय	पृष्ठ-संख्या
१२७. मनोवृत्तियोंकी सन्धिमें ब्रह्मसाक्षात्कार	.... २५४
१२८. आत्माकी दुर्दर्शताका हेतु	.... २५६
१२९. परमार्थका आवरण करनेवाले असदभिनिवेश	.... २५७
१३०. ज्ञानीका नैष्कर्म्य	.... २५९
१३१. त्रिविध ज्ञेय	.... २६१
१३२. त्रिविध ज्ञेय और ज्ञानका ज्ञाता सर्वज्ञ है	.... २६४
१३३. जीव आकाशके समान अनादि और अभिन्न हैं	.... २६७
१३४. आत्मतत्त्वनिरूपण	.... २६७
१३५. आत्मज्ञ ही अकृपण है	.... २६९
१३६. आत्मज्ञका महाज्ञानित्व	.... २७०
१३७. जातवादमें दोषप्रदर्शन	.... २७२
१३८. आत्माका स्वाभाविक स्वरूप	.... २७३
१३९. अजातवाद बौद्धदर्शन नहीं है	.... २७४
१४०. परमार्थपद-वन्दना	.... २७६
१४१. भाष्यकारकर्तृक वन्दना	.... २७७
१४२. शान्तिपाठ	.... २७९



ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

माण्डूक्योपनिषद्

गौडपादीय कारिका, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित



जाग्रदादित्रयोन्मुक्तं जाग्रदादिमयं तथा।
ओङ्कारैकसुसंवेद्यं यत्पदं तन्नमाम्यहम्॥



शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

हे देवगण! हम कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें। यज्ञकर्ममें समर्थ होकर नेत्रोंसे शुभ दर्शन करें तथा अपने स्थिर अंग और शरीरोंसे स्तुति करनेवाले हमलोग देवताओंके लिये हितकर आयुका भोग करें। त्रिविध तापकी शान्ति हो।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करे; परम ज्ञानवान् [अथवा परम धनवान्] पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टों (आपत्तियों)-के लिये चक्रके समान [घातक] है वह गरुड हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापकी शान्ति हो।



आगमप्रकरण

भाष्यकारका मङ्गलाचरण

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान् पुनरपि धिषणोद्भासितान् कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान् विशेषान् स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि॥ १॥

जो अपनी चराचरव्यापिनी ज्ञानरश्मियोंके विस्तारसे सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त कर [जाग्रत्-अवस्थामें] स्थूल विषयोंका भोग करनेके अनन्तर फिर [स्वप्नावस्थामें] बुद्धिसे प्रकाशित वासनाजनित सम्पूर्ण भोगोंका पानकर मायासे हम सब जीवोंको भोग कराता हुआ [स्वयं] आनन्दका भोक्ता होकर शयन करता है तथा जो परम अमृत और अजन्मा ब्रह्म मायासे 'तुरीय' (चौथी) संख्यावाला है, उसे हम नमस्कार करते हैं॥ १॥

यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान् स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान् विशेषान् विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः॥ २॥

जो सर्वात्मा [जाग्रत्-अवस्थामें] शुभाशुभ कर्मजनित स्थूल भोगोंको भोगकर फिर [स्वप्नकालमें] अपनी बुद्धिसे परिकल्पित सूक्ष्म विषयोंको [सूर्य आदि बाह्य ज्योतियोंका अभाव होनेके कारण] अपने ही प्रकाशसे भोगता है और फिर धीरे-धीरे इन सभीको अपनेमें स्थापित कर सम्पूर्ण विशेषोंको छोड़कर निर्गुणरूपसे स्थित हो जाता है, वह तुरीय परमात्मा हमारी रक्षा करे॥ २॥



सम्बन्धभाष्य

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतदक्षरमित्याद्यारभ्यते। अत एव न पृथक्सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि। यान्येव तु वेदान्ते सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति। तथापि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि।

अनुबन्ध-विमर्श:

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्पर्येण विशिष्टसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद्भवति। किं पुनस्तत्प्रयोजनमित्युच्यते, रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता। तथा दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता। अद्वैतभावः प्रयोजनम्।

द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति

'ॐ' यह अक्षर ही यह सब कुछ है। उसका व्याख्यानरूप तथा वेदान्तार्थका सारसंग्रहभूत यह चार प्रकरणोंवाला ग्रन्थ 'ओमित्येतदक्षरमिदम्' आदि मन्त्रद्वारा आरम्भ किया जाता है। इसीलिये इसके सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनका पृथक् वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है। वेदान्तशास्त्रमें जो-जो सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन हुआ करते हैं वे ही इस ग्रन्थमें भी हो सकते हैं। तो भी [व्याख्याकार ऐसा मानते हैं कि] जिन्हें किसी प्रकरण-ग्रन्थकी व्याख्या करनेकी इच्छा हो उन्हें संक्षेपसे उनका वर्णन कर ही देना चाहिये।

तहाँ, प्रयोजनसिद्धिके अनुकूल साधन अभिव्यक्त करनेके कारण अपने प्रतिपाद्य विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र परम्परासे विशिष्ट सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनवाला हुआ करता है। अच्छा तो, [इस शास्त्रका] वह क्या प्रयोजन है? सो बतलाया जाता है—जिस प्रकार रोगी पुरुषको रोगकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थता होती है उसी प्रकार दुःखाभिमानी आत्माको द्वैतप्रपञ्चकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थता मिलती है। अतः अद्वैतभाव ही इसका प्रयोजन है।

द्वैतप्रपञ्च अविद्याजनित है इसलिये उसकी निवृत्ति विद्यासे ही हो सकती

ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्यारम्भः क्रियते। ''यत्र हि द्वैतमिव भवति'' (बृ० उ० २। ४। १४) ''यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्'' (बृ० उ० ४। ३। ३१) ''यत्र वास्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात्'' (बृ० उ० २। ४। १४) इत्यादिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः।

है। अतः ब्रह्मविद्याको प्रकाशित करनेके लिये ही इसका आरम्भ किया जाता है। ''जहाँ द्वैतके समान होता है'' ''जहाँ भिन्नके समान हो वहीं कोई दूसरा दूसरेको देख सकता है अथवा दूसरा दूसरेको जानता है'' ''जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया है वहाँ यह किसके द्वारा किसे देखे? और किसके द्वारा किसे जाने?'' इत्यादि श्रुतियोंसे इसी बातकी सिद्धि होती है।

प्रकरण-चतुष्टय-प्रतिपाद्यार्थ-निरूपणम्

तत्र तावदोङ्कारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानम् आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्। यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमेऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिस्तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम्। तथाद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसङ्गप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम्। अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि तेषामन्योन्यविरोधित्वा-

उन (चारों प्रकरणों)-में पहला प्रकरण तो ओंकारके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये है। वह आगम (श्रुति) प्रधान और आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपायभूत है। रज्जुमें सर्पादि विकल्पकी निवृत्ति होनेपर जिस प्रकार रज्जुके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार जिस द्वैतप्रपञ्चकी निवृत्ति होनेपर अद्वैत-तत्त्वका बोध होता है उसी द्वैतका युक्तिपूर्वक मिथ्यात्व प्रतिपादन करनेके लिये [वैतथ्यनामक] द्वितीय प्रकरण है। इसी प्रकार अद्वैतके भी मिथ्यात्वका प्रसंग उपस्थित न हो जाय इसलिये युक्तिद्वारा उसका सत्यत्व प्रतिपादन करनेके लिये तृतीय (अद्वैत) प्रकरण है। तथा अद्वैतके सत्यत्व-निश्चयके विपक्षी जो अन्य अवैदिक मतान्तर हैं वे परस्परविरोधी होनेके कारण

दतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम्।

मिथ्या हैं, अतः उन्हींकी युक्तियोंसे उनका खण्डन करनेके लिये चतुर्थ (अलातशान्ति) प्रकरण है।

ओंकारस्य आत्मप्रतिपत्ति-साधनत्वम्

कथं पुनरोङ्कारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यत इत्युच्यते— ''ओमित्येतत्'' (क० उ० १। २। १५) ''एतदालम्बनम्'' (क० उ० १। २। १७) '' एतद्वै सत्यकाम'' (प्र० उ० ५। २) ''ओमित्यात्मानं युञ्जीत'' (मैत्र्यु० ६। ३) ''ओमिति ब्रह्म'' (तै० उ० १। ८। १) ''ओङ्कार एवेदं सर्वम्'' (छा० उ० २। २३। ३) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

ओंकारका निर्णय किस प्रकार आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपाय होता है, सो अब बतलाया जाता है—''ॐ यही [वह पद] है'' ''यही आलम्बन है'' ''हे सत्यकाम! यह [जो ओंकार है वही पर और अपर ब्रह्म है]'' ''आत्माका ॐ इस प्रकार ध्यान करे'' ''ॐ यही ब्रह्म है'' ''यह सब ओंकार ही है'' इत्यादि श्रुतियोंसे यही बात जानी जाती है।

ओंकारस्य सर्वास्पदत्वम्

रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्यास्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्यास्पदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओङ्कार एव। स चात्मस्वरूपमेव, तदभिधायकत्वात्। ओङ्कारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधान-

सर्पादि विकल्पकी अधिष्ठानभूत रज्जु आदिके समान जिस प्रकार अद्वितीय आत्मा परमार्थ सत्य होनेपर भी प्राणादि विकल्पका आश्रय है उसी प्रकार प्राणादि विकल्पको विषय करनेवाला सम्पूर्ण वाग्विलास ओंकार ही है। और वह (ओंकार) आत्माका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे उसका स्वरूप ही है। तथा ओंकारके विकाररूप शब्दोंके प्रतिपाद्य आत्माके विकल्परूप समस्त प्राणादि भी अपने प्रतिपादक शब्दोंसे भिन्न नहीं हैं,

व्यतिरेकेण नास्ति। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६। १। ४) "तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्" "सर्वं हीदं नामनि" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अत आह—

जैसा कि "विकार केवल वाणीका विलास और नाममात्र है" "उस ब्रह्मका यह सम्पूर्ण जगत् वाणीरूप सूत्रद्वारा नाममयी डोरीसे व्याप्त है" "यह सब नाममय ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है।

इसीलिये कहते हैं—

ॐ ही सब कुछ है

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १॥

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह जो कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान है उसीकी व्याख्या है; इसलिये यह सब ओंकार ही है। इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है॥ १॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्, अभिधानस्य चोङ्काराव्यतिरेकादोङ्कार एवेदं सर्वम्। परं च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव गम्यत इत्योङ्कार एव।

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह अभिधेय (प्रतिपाद्य)-रूप जितना पदार्थसमूह है वह अपने अभिधान (प्रतिपादक)-से अभिन्न होनेके कारण और सम्पूर्ण अभिधान भी ओंकारसे अभिन्न होनेके कारण यह सब कुछ ओंकार ही है। परब्रह्म भी अभिधान-अभिधेय (वाच्य-वाचक)-रूप उपायके द्वारा ही जाना जाता है, इसलिये वह भी ओंकार ही है।

तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम्; ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद्ब्रह्मसमीपतया

यह जो परापर ब्रह्मरूप अक्षर ॐ है, उसका उपव्याख्यान—ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय होनेके कारण उसके समीपतासे

विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः।

स्पष्ट कथनका नाम उपव्याख्यान है वही—यहाँ प्रस्तुत जानना चाहिये। इस वाक्यमें 'प्रस्तुतं वेदितव्यम्' (प्रस्तुत जानना चाहिये) यह वाक्यशेष है।

भूतं भवद्भविष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योङ्कार एवोक्तन्यायतः। यच्चान्यत्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्योङ्कार एव॥ १॥

भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन तीनों कालोंसे जो कुछ परिच्छेद्य है वह भी उपर्युक्त न्यायसे ओंकार ही है। इसके सिवा जो तीनों कालोंसे परे, अपने कार्यसे ही विदित होनेवाला और कालसे अपरिच्छेद्य अव्याकृत आदि है वह भी ओंकार ही है॥ १॥

ओंकारवाच्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽप्यभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्यादि। अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः। इतरथा ह्यभिधानतन्त्राभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात्। एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्त-

वाचक और वाच्यका अभेद होनेपर भी वाचककी प्रधानतासे ही ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है इत्यादि रूपसे निर्देश किया गया है। वाचककी प्रधानतासे निर्दिष्ट वस्तुका फिर वाच्यकी प्रधानतासे किया हुआ निर्देश वाचक और वाच्यका एकत्व प्रतिपादन करनेके लिये है; अन्यथा वाच्यकी प्रतिपत्ति वाचकके अधीन होनेके कारण वाच्यका वाचकरूप होना गौण ही होगा—ऐसी आशंका हो सकती है। किन्तु वाच्य (ब्रह्म) और वाचक (ओंकार) की एकत्वप्रतिपत्तिका तो यही प्रयोजन है कि उन दोनोंको एक ही

द्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति। तथा च वक्ष्यति ''पादा मात्रा मात्राश्च पादाः'' (मा० उ०, आ० प्र० ८) **इति। तदाह—**

प्रयत्नसे एक साथ लीन करके उनसे विलक्षण ब्रह्मको प्राप्त किया जाय। ऐसा ही ''पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं'' इस श्रुतिसे कहेंगे भी। अब वही बात कहते हैं—

सर्व ँ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥ २॥

यह सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। वह यह आत्मा चार पादों (अंशों) वाला है॥ २॥

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेति। सर्वं यदुक्तमोङ्कारमात्रमिति तदेतद्ब्रह्म। तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति—अयमात्मा ब्रह्मेति। अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाभिनयेन निर्दिशति— अयमात्मेति। सोऽयमात्मोङ्काराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति। त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः। तुरीयस्य

यह सब ब्रह्म ही है। अर्थात् यह सब, जो ओंकारमात्र कहा गया है, ब्रह्म है। अबतक परोक्षरूपसे बतलाये हुए उस ब्रह्मको विशेषरूपसे प्रत्यक्षतया 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसा कहकर निर्देश करते हैं। यहाँ 'अयम्' शब्दद्वारा चतुष्पादरूपसे विभक्त किये जानेवाले आत्माको अपने अन्तरात्मस्वरूपसे अभिनय (अंगुलि-निर्देश) पूर्वक 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसा कहकर बतलाते हैं। ओंकार नामसे कहा जानेवाला तथा पर और अपररूपसे व्यवस्थित वह यह आत्मा कार्षापणके* समान चार पाद (अंश) वाला है, गौके समान नहीं। विश्व आदि तीन पादोंमेंसे क्रमशः पूर्व-पूर्वका लय करते हुए अन्तमें तुरीय ब्रह्मकी उपलब्धि होती है। अतः

* किसी देशविशेषमें प्रचलित सिक्केका नाम कार्षापण है। यह सोलह पणका होता है। जिस प्रकार रुपयेमें चार चवन्नी अथवा सेरमें चार पौवे होते हैं, उसी प्रकार उसमें चार पाद माने गये हैं।

पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः ॥ २ ॥

पहले तीन पादोंमें 'पाद' शब्द करणवाच्य है और तुरीयमें 'जो प्राप्त किया जाय' इस प्रकार कर्मवाच्य है ॥ २ ॥

कथं चतुष्पात्त्वमित्याह—

वह किस प्रकार चार पादोंवाला है, सो बतलाते हैं—

आत्माका प्रथम पाद—वैश्वानर

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जाग्रत्-अवस्था जिस [की अभिव्यक्ति] का स्थान है, जो बहिःप्रज्ञ (बाह्य विषयोंको प्रकाशित करनेवाला) सात अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखोंवाला और स्थूल विषयोंका भोक्ता है, वह वैश्वानर पहला पाद है ॥ ३ ॥

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः। बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाविद्याकृतावभासत इत्यर्थः। तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" (छा० उ० ५। १८। २) इत्यग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाहवनीयो-

जाग्रत्-अवस्था जिसका स्थान है, उसे जागरितस्थान कहते हैं। जिसकी अपनेसे भिन्न विषयोंमें प्रज्ञा है, उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं, अर्थात् जिसकी अविद्याकृत बुद्धि बाह्य विषयोंसे सम्बद्ध-सी भासती है। इसी प्रकार जिसके सात अङ्ग हैं अर्थात् "इस उस वैश्वानर आत्माका द्युलोक सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश मध्यस्थान (देह) है, अन्न (अन्नका कारणरूप जल) ही मूत्र स्थान है और पृथिवी ही चरण है" इस श्रुतिके अनुसार अग्निहोत्रकल्पनामें अङ्गभूत होनेके कारण

ऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः।

तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धि-द्वाराणीत्यर्थः, स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादी-न्स्थूलान्विषयान्भुङ्क्त इति स्थूलभुक्। विश्वेषां नराणा-मनेकधा नयनाद्वैश्वानरः। यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः। विश्वानर एव वैश्वानरः। सर्वपिण्डात्मानन्य-त्वात् स प्रथमः पादः। एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्य-गात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति।

आहवनीय अग्नि उसके मुखरूपसे बतलाया गया है। इस प्रकार जिसके सात अङ्ग हैं, उसे ही सप्ताङ्ग कहते हैं।

तथा जिसके उन्नीस मुख हैं, दस तो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राणादि वायु तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त—ये जिसके मुखके समान मुख अर्थात् उपलब्धिके द्वार हैं, वह ऐसे विशेषणोंवाला वैश्वानर उपर्युक्त द्वारोंसे शब्द आदि स्थूल विषयोंको भोगता है इसलिये वह स्थूलभुक् है। सम्पूर्ण नरोंको [अनेक प्रकारकी योनियोंमें] नयन (वहन) करनेके कारण वह 'वैश्वानर' कहलाता है; अथवा वह विश्व (समस्त) नररूप है इसलिये विश्वानर है। विश्वानर ही [स्वार्थमें तद्धित अण् प्रत्यय होनेसे] वैश्वानर कहलाता है। समस्त देहोंसे अभिन्न होनेके कारण वही पहला पाद है। परवर्ती पादोंका ज्ञान पहले इसका ज्ञान होनेपर ही होता है, इसलिये यह प्रथम है।

शङ्का—"अयमात्मा ब्रह्म" इस श्रुतिके अनुसार यहाँ प्रत्यगात्माको चार पादोंवाला बतलानेका प्रसङ्ग था। उसमें द्युलोकादिको उसके मूर्धा आदि अङ्गरूपसे कैसे बतलाने लगे?

नैष दोषः। सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनात्मना चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात्। एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः। सर्वभूतस्थश्चात्मैको दृष्टः स्यात् सर्वभूतानि चात्मनि। "यस्तु सर्वाणि भूतानि" (ई० उ० ६) इत्यादिश्रुत्यर्थ उपसंहृतश्चैवं स्यात्। अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्, सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात्। इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्। अतो युक्तमेवास्याध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाधिदैविकेनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम्। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० उ० ५। १२। २) इत्यादिलिङ्गदर्शनाच्च।

वैश्वानरस्य सप्ताङ्गत्वादि प्रतिपादने हेतुः

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस आत्माके द्वारा ही अधिदैवसहित सम्पूर्ण प्रपञ्चके चतुष्पात्त्वका प्रतिपादन करना इष्ट है। ऐसा होनेपर ही सारे प्रपञ्चके निषेधपूर्वक अद्वैतकी सिद्धि हो सकेगी। समस्त भूतोंमें स्थित एक आत्मा और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंका साक्षात्कार हो सकेगा और इसी प्रकार "जो सारे भूतोंको [आत्मामें ही देखता है]" इत्यादि श्रुतियोंके अर्थका उपसंहार हो सकेगा। नहीं तो सांख्यदर्शन आदिके समान अपने देहमें परिच्छिन्न अन्तरात्माका ही दर्शन होगा। ऐसा होनेपर 'अद्वैत है' इस श्रुतिप्रतिपादित विशेष भावकी सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि सांख्यादि दर्शनोंकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता नहीं रहेगी। परन्तु सम्पूर्ण उपनिषदोंको आत्माके एकत्वका प्रतिपादन तो इष्ट ही है। इसलिये इस आध्यात्मिक पिण्डात्माका द्युलोक आदिके अङ्गरूपसे आधिदैविक पिण्डात्माके साथ एकत्व प्रतिपादन करनेके अभिप्रायसे उसका सप्ताङ्गत्व प्रतिपादन उचित ही है। इसके सिवा [आत्माकी व्यस्तोपासनाके निन्दक] "तेरा सिर गिर जाता" आदि वाक्य भी इसमें हेतु हैं।

विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः। उक्तं चैतन् मधुब्राह्मणे ''यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम्'' (बृ० उ० २। ५। १) इत्यादि। सुषुप्ताव्याकृतयो-स्त्वेकत्वं सिद्धमेव निर्विशेषत्वात्। एवं च सत्येतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति॥ ३॥

यहाँ जो विराट्के साथ एकत्व प्रतिपादन किया है, वह हिरण्यगर्भ और अव्याकृतके एकत्वको उपलक्षित करानेके लिये है। मधुब्राह्मणमें ऐसा कहा भी है—''यह जो इस पृथिवीमें तेजोमय एवं अमृतमय पुरुष है तथा यह जो अध्यात्मपुरुष है [वे दोनों एक हैं]'' इत्यादि। कोई विशेषता न रहनेके कारण सोये हुए पुरुष और अव्याकृतका एकत्व तो सिद्ध ही है। ऐसा होनेपर ही यह सिद्ध होगा कि सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति होनेपर अद्वैत ही है॥ ३॥



आत्माका द्वितीय पाद—तैजस

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः॥ ४॥

स्वप्न जिसका स्थान है तथा जो अन्तःप्रज्ञ, सात अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखवाला और सूक्ष्म विषयोंका भोक्ता है, वह तैजस [इसका] दूसरा पाद है।

स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स्वप्नस्थानः। जाग्रत्प्रज्ञानेक-साधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्य-साधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः

स्वप्न इस तैजसका स्थान है, इसलिये यह स्वप्नस्थानवाला [कहा जाता] है। अनेक साधनवती जाग्रत्कालीना बुद्धि मनका स्फुरणमात्र होनेपर भी बाह्यविषयसम्बन्धिनी-सी प्रतीत होती हुई मनमें वैसा ही संस्कार उत्पन्न करती है। चित्रित वस्त्रके समान इस प्रकारके संस्कारोंसे युक्त हुआ वह मन अविद्या कामना और कर्मके कारण बाह्यसाधनकी

प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। तथा चोक्तम्—''अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय'' (बृ० उ० ४। ३। ९) इति। तथा ''परे देवे मनस्येकीभवति'' (प्र० उ० ४। २) इति प्रस्तुत्य ''अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति'' (प्र० उ० ४। ५) इत्याथर्वणे।

अपेक्षाके बिना ही प्रेरित होकर जाग्रत्-सा भासने लगता है। ऐसा ही कहा भी है—''इस सर्वसाधनसम्पन्न लोकके संस्कार ग्रहण करके [स्वप्न देखता है] ''इत्यादि। तथा आथर्वणश्रुतिमें भी [समस्त इन्द्रियाँ] ''परम (इन्द्रियादिसे उत्कृष्ट) देव (प्रकाशनशील) मनमें एकरूप हो जाती हैं'' इस प्रकार प्रस्तावनाकर कहा है ''यहाँ—स्वप्नावस्थामें यह देव अपनी महिमाका अनुभव करता है।''

इन्द्रियापेक्षयान्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तःप्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। समानमन्यत्। द्वितीयः पादस्तैजसः॥ ४॥

अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन अधिक अन्तःस्थ है, स्वप्नावस्थामें जिसकी प्रज्ञा उस (मन) की वासनाके अनुरूप रहती है उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं; वह अपनी विषयशून्य और केवल प्रकाशस्वरूप प्रज्ञाका विषयी (अनुभव करनेवाला) होनेके कारण 'तैजस' कहा जाता है। विश्व बाह्यविषययुक्त होता है, इसलिये जागरित अवस्थामें स्थूल प्रज्ञा उसकी भोज्य है। किन्तु तैजसके लिये केवल वासनामात्र प्रज्ञा भोजनीया है; इसलिये इसका भोग सूक्ष्म है। शेष अर्थ पहलेहीके समान है। यह तैजस ही दूसरा पाद है॥ ४॥



दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात्

[तत्त्वज्ञानका अभावरूप] स्वापावस्थाके दर्शन (जाग्रत्स्थान) और अदर्शन (स्वप्नस्थान) इन दोनों

सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादि विशेषणम्। अथ वा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते—

ही वृत्तियोंमें समान होनेके कारण सुषुप्ति-अवस्थाको [उससे पृथक्] ग्रहण करनेके लिये 'यत्र सुप्तः' इत्यादि विशेषण दिये जाते हैं। अथवा तीनों ही अवस्थाओंमें तत्त्वका अज्ञानरूप निद्रा समान ही है, इसलिये पहले दो स्थानोंसे सुषुप्तिका विभाग करते हैं—

आत्माका तृतीय पाद—प्राज्ञ

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥ ५॥

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं। वह सुषुप्ति जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय, आनन्दका भोक्ता और चेतनारूप मुखवाला है वह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है॥ ५॥

यत्र यस्मिन्स्थाने काले वा सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति न कञ्चन कामं कामयते। न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते। तदेतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः।

जहाँ यानी जिस स्थान अथवा समयमें सोया हुआ पुरुष न कोई स्वप्न देखता और न किसी भोगकी ही इच्छा करता है, क्योंकि सुषुप्तावस्थामें पहली दोनों अवस्थाओंके समान अन्यथा ग्रहणरूप स्वप्नदर्शन अथवा किसी प्रकारकी कामना नहीं होती, वह यह सुषुप्तावस्था ही जिसका स्थान है उसे सुषुप्तस्थान कहते हैं।

स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातं तथारूपापरित्यागे-

जिस प्रकार रात्रिके अन्धकारसे दिन आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों स्थानोंमें विभिन्न रूपसे

नाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाहःसप्रपञ्चमेकीभूतमित्युच्यते। अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसाविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव। एवशब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः।

मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नानन्द एव। अनात्यन्तिकत्वात्। यथा लोके निरायासस्थितः सुख्यानन्दभुगुच्यते, अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्, "एषोऽस्य परम

प्रतीत होनेवाला मनका स्फुरणरूप द्वैतसमूह [इस अवस्थामें] प्रपञ्चके सहित अपने उस (विशिष्ट) स्वरूपका त्याग न कर अज्ञानसे आच्छादित हो जाता है; इसलिये इसे 'एकीभूत' ऐसा कहा जाता है। अतः जिस अवस्थामें स्वप्न और जाग्रत्—ये मनके स्फुरणरूप प्रज्ञान घनीभूत-से हो जाते हैं, वह यह अवस्था अविवेकरूपा होनेके कारण प्रज्ञानघन कही जाती है। जिस प्रकार रात्रिमें रात्रिके अन्धकारसे पृथक्त्वकी प्रतीति न होनेके कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च घनीभूत-सा जान पड़ता है उसी प्रकार यह प्रज्ञानघन ही है। 'एव' शब्दसे यह तात्पर्य है कि उस समय प्रज्ञानके सिवा कोई अन्य जाति नहीं रहती।

मनका जो विषय और विषयीरूपसे स्फुरित होनेके आयासका दुःख है उसका अभाव होनेके कारण यह आनन्दमय अर्थात् आनन्दबहुल है; केवल आनन्दमात्र ही नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें आनन्दकी आत्यन्तिकता नहीं है; जिस प्रकार लोकमें अनायासरूपसे स्थित पुरुष सुखी या आनन्द भोग करनेवाला कहा जाता है, उसी प्रकार, क्योंकि इस अवस्थामें यह आत्मा इस अत्यन्त अनायासरूपा स्थितिका अनुभव करता है, इसलिये

आनन्दः'' (बृ० उ० ४। ३। ३२) इति श्रुतेः।

यह आनन्दभुक् कहा जाता है; जैसा कि ''यह इसका परम आनन्द है'' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रति द्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः। बोधलक्षणं वा चेतो द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः। भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते। अथ वा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः, इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति। सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥ ५॥

स्वप्नादिज्ञानरूप चेतनाके प्रति द्वारस्वरूप होनेके कारण यह चेतोमुख है। अथवा स्वप्नादिकी प्राप्तिके लिये ज्ञानस्वरूप चित्त ही इसका द्वार यानी मुख है, इसलिये यह चेतोमुख है। भूत-भविष्यत्का तथा सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञाता यही है, इसलिये यह प्राज्ञ है। सुषुप्त होनेपर भी इसे भूतपूर्वगतिसे 'प्राज्ञ' कहा जाता है। अथवा केवल प्रज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र इसीका असाधारणरूप है, इसलिये यह प्राज्ञ है, क्योंकि दूसरोंको (विश्व और तैजसको) तो विशिष्ट विज्ञान भी होता है। वह यह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है॥ ५॥



प्राज्ञका सर्वकारणत्व

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ ६॥

यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और समस्त जीवोंकी उत्पत्ति तथा लयका स्थान होनेके कारण यह सबका कारण भी है॥ ६॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव। "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" (छा० उ० ६। ८। २) इति श्रुतेः। अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञः। एषोऽन्तर्याम्यन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताप्येष एव। अत एव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य। यत एवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव॥ ६॥

अपने स्वरूपमें स्थित यह (प्राज्ञ) ही सर्वेश्वर है, अर्थात् अधिदैवके सहित सम्पूर्ण भेदसमूहका ईश्वर—ईशन (शासन) करनेवाला है। "हे सोम्य! यह मन (जीव) प्राण (प्राणसंज्ञक ब्रह्म) रूप बन्धनवाला है" इस श्रुतिसे अन्य मतावलम्बियोंके सिद्धान्तानुसार [सर्वज्ञ परमेश्वर] इस प्राज्ञसे कोई विजातीय पदार्थ नहीं है। सम्पूर्ण भेदमें स्थित हुआ यही सबका ज्ञाता है; इसलिये यह सर्वज्ञ है। [अतएव] यह अन्तर्यामी है अर्थात् समस्त प्राणियोंके भीतर अनुप्रविष्ट होकर उनका नियमन करनेवाला भी यही है। इसीसे पूर्वोक्त भेदके सहित सारा जगत् उत्पन्न होता है; इसलिये यही सबका कारण है। क्योंकि ऐसा है, इसलिये यही समस्त प्राणियोंका उत्पत्ति और लयस्थान भी है॥ ६॥



एक ही आत्माके तीन भेद

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक हैं—

अत्रैतस्मिन्यथोक्तेऽर्थ एते श्लोका भवन्ति।

यहाँ इस पूर्वोक्त अर्थमें ये श्लोक हैं—

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः॥ १॥

विभु विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है तथा प्राज्ञ घनप्रज्ञ (प्रज्ञानघन) है। इस प्रकार एक ही आत्मा तीन प्रकारसे कहा जाता है॥ १॥

बहिष्प्रज्ञ इति। पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्सोऽहमिति स्मृत्या प्रतिसन्धानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः। महामत्स्यादिदृष्टान्तश्रुतेः॥ १॥

बहिष्प्रज्ञ इत्यादि। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि क्रमशः तीन स्थानोंवाला होनेसे और 'मैं वही हूँ' इस प्रकारकी स्मृतिद्वारा अनुसन्धान किया जानेके कारण आत्माका तीनों स्थानोंसे पृथक्त्व, एकत्व, शुद्धत्व और असंगत्व सिद्ध होता है, जैसा कि महामत्स्यादि दृष्टान्तका वर्णन करनेवाली श्रुति* बतलाती है॥ १॥



विश्वादिके विभिन्न स्थान

जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः-

जाग्रत्-अवस्थामें ही विश्व आदि तीनोंका अनुभव दिखलानेके लिये यह श्लोक कहा जाता है—

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः॥ २॥

दक्षिणनेत्ररूप द्वारमें विश्व रहता है, तैजस मनके भीतर रहता है, प्राज्ञ हृदयाकाशमें उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह [एक ही आत्मा] शरीरमें तीन प्रकारसे स्थित है॥ २॥

---

* जिस प्रकार किसी नदीमें रहनेवाला कोई बलवान् मत्स्य उसके प्रवाहसे विचलित न होकर उसके दोनों तटोंपर आता-जाता रहता है; किन्तु उन तटोंसे पृथक् होनेके कारण उनके गुण-दोषोंसे युक्त नहीं होता तथा जिस प्रकार कोई बड़ा पक्षी आकाशमें स्वच्छन्दगतिसे उड़ता रहता है उसी प्रकार स्वप्न और जाग्रत् दोनों स्थानोंमें सञ्चार करनेवाला आत्मा एक, असंग और शुद्ध है—ऐसा मानना उचित ही है। (देखिये बृ० उ० ४। ३। १८, १९)

दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन् प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते। ''इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः'' (बृ० उ० ४। २। २) इति श्रुतेः। इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानरः। आदित्यान्तर्गतो वैराज आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः।

दक्षिण नेत्र ही मुख (उपलब्धिका स्थान) है; उसीमें प्रधानतासे स्थूल पदार्थोंके साक्षी विश्वका अनुभव होता है। ''यह जो दक्षिण नेत्रमें स्थित पुरुष है 'इन्ध[1]' नामसे प्रसिद्ध है'' इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है। दीप्तिगुणविशिष्ट वैश्वानरको 'इन्ध' कहते हैं। आदित्यान्तर्गत वैराजसंज्ञक आत्मा और नेत्रोंमें स्थित साक्षी—ये दोनों एक ही हैं।

नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी।

शङ्का—हिरण्यगर्भ अन्य है तथा दक्षिण नेत्रमें स्थित नेत्रेन्द्रियका नियन्ता और साक्षी देहका स्वामी क्षेत्रज्ञ अन्य है। [उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है?]

न, स्वतो भेदानभ्युपगमात्। ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'' (श्वे० उ० ६। ११) इति श्रुतेः। ''क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'' (गीता १३। २) ''अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'' (गीता १३। १६) इति स्मृतेः। सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणाक्ष-

समाधान—नहीं [ऐसी बात नहीं है], क्योंकि उनका स्वाभाविक भेद नहीं माना गया, क्योंकि ''सम्पूर्ण भूतोंमें एक ही देव छिपा हुआ है'' इस श्रुतिसे तथा ''हे भारत! समस्त क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान'' ''[वह वस्तुतः] विभक्त न होकर भी विभक्तके समान स्थित है'' इत्यादि स्मृतियोंसे भी [यही बात सिद्ध होती है]। सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें समानरूपसे स्थित होनेपर भी दक्षिण नेत्रमें उसकी

१.जो जागरित अवस्थामें स्थूल पदार्थोंका भोक्ता होनेके कारण इद्ध-दीप्त होता है।

ण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वस्य।

दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः-स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभि-व्यक्तं पश्यति। यथात्र तथा स्वप्ने। अतो मनस्यन्तस्तु तैजसो-ऽपि विश्व एव।

आकाशे च हृदि स्मरणाख्य-व्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति; मनो-व्यापाराभावात्। दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते; तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनावस्थानम्। ''प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते'' (छा० उ० ४। ३। ३) इति श्रुतेः। तैजसो हिरण्यगर्भो मनःस्थत्वात्। ''लिङ्गं मनः'' (बृ० उ० ४। ४। ६)

उपलब्धिकी स्पष्टता देखनेसे वहीं विश्वका विशेषरूपसे निर्देश किया जाता है।

दक्षिणनेत्रस्थित जीवात्मा रूपको देखकर फिर नेत्र मूँद मनमें उसीका स्मरण करता हुआ वासनारूपसे अभिव्यक्त उसी रूपका स्वप्नमें उपलब्धकी तरह दर्शन करता है। जिस प्रकार इस अवस्थामें होता है, ठीक वैसा ही स्वप्नमें होता है। [इसलिये यह जाग्रत्में स्वप्न ही है] अतः मनके भीतर स्थित तैजस भी विश्व ही है।

तथा स्मरणरूप व्यापारके निवृत्त हो जानेपर हृदयाकाशमें स्थित प्राज्ञ मनोव्यापारका अभाव हो जानेके कारण एकीभूत और घनप्रज्ञ ही हो जाता है। दर्शन और स्मरण ही मनका स्फुरण हैं, उनका अभाव हो जानेपर जो जीवका हृदयके भीतर ही निर्विशेष प्राणरूपसे स्थित होना है [वही जाग्रत्में सुषुप्ति है]। ''प्राण ही इन सबको अपनेमें लीन कर लेता है'' इस श्रुतिसे यही प्रमाणित होता है। मनःस्थित होनेके कारण तैजस ही हिरण्यगर्भ है।* ''[सत्रह अवयववाला] लिङ्गरूप मन''

* क्योंकि तैजसकी उपाधि व्यष्टि मन है और हिरण्यगर्भकी समष्टि मन तथा समष्टि-व्यष्टिका परस्पर अभेद है।

"मनोमयोऽयं पुरुषः" (बृ० उ० ५। ६। १) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

"यह पुरुष* मनोमय है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी [तैजस और हिरण्यगर्भकी एकता सिद्ध होती है]।

ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते। तदात्मकानि करणानि भवन्ति। कथमव्याकृतता?

शङ्का—सुषुप्तिमें भी प्राण तो व्याकृत (विशेषभावापन्न) ही होता है† तथा ['प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते' इस श्रुतिके अनुसार] इन्द्रियाँ भी प्राणरूप ही हो जाती हैं। फिर उसकी अव्याकृतता कैसे कही गयी?

नैष दोषः, अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावात्।

सुषुप्तौ प्राणानाम् अव्याकृतत्वम्

यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य तथापि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम्। यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्ताव-

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अव्याकृत पदार्थमें देशकालरूप विशेष भावका अभाव होता है। यद्यपि [जैसा कि स्वप्नावस्थामें होता है] प्राणका अभिमान रहते हुए तो उसकी व्याकृतता है ही तथापि सुषुप्तावस्थामें प्राणमें पिण्डपरिच्छिन्न विशेषका अभिमान [अर्थात् यह मेरे शरीरसे परिच्छिन्न प्राण है—ऐसा अभिमान] नहीं रहता; अतः परिच्छिन्नदेहाभिमानियोंके लिये भी उस समय वह अव्याकृत ही है।

जिस प्रकार प्राणका लय [अर्थात् मृत्यु] होनेपर परिच्छिन्न देहाभिमानियोंका प्राण अव्याकृतरूपमें रहता है उसी प्रकार प्राणाभिमानियोंको भी प्राणकी अविशेषता प्राप्त होनेपर उसकी

* यहाँ हिरण्यगर्भको ही 'पुरुष' कहा गया है।

† क्योंकि सोये हुए पुरुषके पास बैठे हुए लोगोंको वह ऐसा ही दिखायी देता है।

व्याकृतता समाना प्रसव-बीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्चैको-ऽव्याकृतावस्थः। परिच्छिन्नाभिमानिना-मध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञान-घन इत्याद्युपपन्नम्। तस्मिन्नुक्त-हेतुत्वाच्च।

अव्याकृतता और प्रसव-बीजरूपता वैसी ही है। अतः [अव्याकृत और सुषुप्ति] इन दोनों अवस्थाओंका साक्षी भी अव्याकृत अवस्थामें रहनेवाला एक ही [चेतन आत्मा] है। परिच्छिन्न देहोंके अभिमानी और उनके साक्षियोंकी उसके साथ एकता है; अतः [प्राज्ञके लिये] 'एकीभूतः प्रज्ञानघनः' आदि पूर्वोक्त विशेषण उचित ही हैं; विशेषतः इसलिये भी, क्योंकि इसमें [अधिदैव अव्याकृत और अध्यात्म प्राज्ञकी एकतारूप] उपर्युक्त हेतु भी विद्यमान है।

कथं प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य।

शङ्का—किन्तु अव्याकृत 'प्राण' शब्दवाच्य कैसे हुआ?

''प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'' (छा० उ० ६। ८। २) इति श्रुतेः।

समाधान—''हे सोम्य! मन प्राणके ही अधीन है'' इस श्रुतिके अनुसार।

ननु तत्र ''सदेव सोम्य'' (छा० उ० ६। २। १) इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्।

शङ्का—किन्तु वहाँ तो ''सदेव सोम्य'' इस श्रुतिके अनुसार प्रसङ्गप्राप्त सद्ब्रह्म ही 'प्राण' शब्दका वाच्य है।

प्राणशब्दस्य बीजब्रह्म-परत्वम्

नैष दोषः, बीजात्मकत्वाभ्यु-पगमात्सतः। यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र तथापि जीवप्रसव-बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राण-शब्दत्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च। यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् ''नेति नेति'' (बृ० उ० ४। ४। २२, ४। ५। १५)

समाधान—वहाँ यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि [उस प्रसङ्गमें] सद्ब्रह्मकी बीजात्मकता स्वीकार की है। यद्यपि वहाँ 'प्राण' शब्दका वाच्य सद्ब्रह्म है तथापि जीवोंकी उत्पत्तिकी बीजात्मकताका त्याग न करते हुए ही उस सद्ब्रह्ममें प्राणशब्दत्व और 'सत्' शब्दका वाच्यत्व माना गया है। यदि वहाँ 'सत्' शब्दसे निर्बीजब्रह्म कहना इष्ट हो

''यतो वाचो निवर्तन्ते'' (तै० उ० २। ९) ''अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्'' (के० उ० १। ३) इत्यवक्ष्यत् ''न सत्तन्नासदुच्यते'' (गीता १३। १२) इति स्मृतेः।

निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्। मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः, बीजाभावाविशेषात्। ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः। तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः।

अत एव ''अक्षरात्परतः परः'' (मु० उ० २। १। २)। ''सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'' (मु० उ० २।

तो उसे ''यह नहीं है, यह नहीं है'' ''जहाँसे वाणी लौट आती है'' ''वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है'' इत्यादि प्रकारसे कहा जायगा, जैसा कि ''वह न सत् कहा जाता है और न असत्'' इस स्मृतिसे भी सिद्ध होता है।

और यदि वहाँ ['सत्' शब्दसे] ब्रह्मका निर्बीजरूपसे ही निर्देश करना इष्ट हो तो सुषुप्ति और प्रलय (मरण) अवस्थामें सत्‌में लीन हुए पुरुषोंका फिर उठना [अर्थात् उत्पन्न होना] सम्भव नहीं होगा तथा मुक्त पुरुषोंके पुनः उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा,* क्योंकि [मुक्त और सत्‌में लीन हुए पुरुषोंमें] बीजत्वका अभाव समान ही है। तथा ज्ञानसे दग्ध होनेवाले बीजका अभाव होनेपर ज्ञानकी व्यर्थताका भी प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। अतः सद्ब्रह्मकी सबीजता स्वीकार करके ही उसका प्राणरूपसे समस्त श्रुतियोंमें कारणरूपसे उल्लेख किया गया है।

इसीलिये ''वह पर अक्षरसे भी पर है'' ''वह बाह्य (कार्य) और अभ्यन्तर (कारण) के सहित [उनका अधिष्ठान

* क्योंकि निर्बीज ब्रह्ममें लीन हुए मुक्तोंका पुनर्जन्म माना नहीं गया और यदि उस अवस्थामें भी पुनर्जन्म स्वीकार किया जाय तो मुक्तिसे भी पुनर्जन्म होना मानना पड़ेगा।

१।२)। ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' (तै० उ० २।९)। ''नेति नेति'' (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादिना बीजवत्त्वापनयनेन व्यपदेशः। तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञ-शब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादि-सम्बन्धजाग्रदादिरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति। बीजावस्थापि न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते॥ २॥

होनेके कारण] अजन्मा है'' ''जहाँसे वाणी लौट आती है'' ''यह नहीं है, यह नहीं है'' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा शुद्ध ब्रह्मका निर्देश बीजवत्त्वका निरास करके ही किया गया है। उस 'प्राज्ञ' शब्दवाच्य जीवकी, देहादिसम्बन्ध तथा जाग्रत् आदि अवस्थासे रहित, उस पारमार्थिकी अबीजावस्थाका तुरीयरूपसे अलग वर्णन करेंगे। बीजावस्था भी जाग्रत् होनेपर 'मुझे कुछ भी पता नहीं रहा' ऐसी प्रतीति देखनेसे शरीरमें अनुभव होती ही है। इसीसे 'वह देहमें तीन प्रकारसे स्थित है' ऐसा कहा गया है॥ २॥



विश्वादिका त्रिविध भोग

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत॥ ३॥

विश्व सर्वदा स्थूल पदार्थोंको ही भोगनेवाला है, तैजस सूक्ष्म पदार्थोंका भोक्ता है तथा प्राज्ञ आनन्दको भोगनेवाला है; इस प्रकार इनका तीन तरहका भोग जानो॥ ३॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम्।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत॥ ४॥

स्थूल पदार्थ विश्वको तृप्त करता है, सूक्ष्म तैजसकी तृप्ति करनेवाला है तथा आनन्द प्राज्ञकी; इस प्रकार इनकी तृप्ति भी तीन तरहकी समझो॥ ४॥

उक्तार्थौ श्लोकौ॥ ३-४॥

इन दोनों श्लोकोंका अर्थ कहा जा चुका है॥ ३-४॥



त्रिविध भोक्ता और भोग्यके ज्ञानका फल

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥ ५॥

[जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन] तीनों स्थानोंमें जो भोज्य और भोक्ता बतलाये गये हैं—इन दोनोंको जो जानता है, वह [भोगोंको] भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता॥ ५॥

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं भोज्यमेकं त्रिधाभूतम्। यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसन्धानाद्द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः; यो वेदैतदुभयं भोज्यभोक्तृतयानेकधा भिन्नं स भुञ्जानो न लिप्यते; भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तुर्भोज्यत्वात्। न हि यस्य यो विषयः स तेन हीयते वर्धते वा; न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि तद्वत्॥ ५॥

जाग्रत् आदि तीन स्थानोंमें जो स्थूल, सूक्ष्म और आनन्दसंज्ञक तीन भेदोंमें बँटा हुआ एक ही भोज्य है और 'वह मैं हूँ' इस प्रकार एकरूपसे अनुसंधान किये जाने तथा द्रष्टृत्वमें कोई विशेषता न होनेके कारण विश्व, तैजस और प्राज्ञ नामक जो एक ही भोक्ता बतलाया गया है—इस प्रकार भोज्य और भोक्तारूपसे अनेक प्रकार विभिन्न हुए इन दोनों (भोक्ता और भोज्य) को जो जानता है वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता, क्योंकि समस्त भोज्य एक ही भोक्ताका भोग है। जैसे अग्नि अपने विषय काष्ठादिको जलाकर [न्यूनाधिक नहीं होता अपने स्वरूपमें सदा समान रहता है] उसी प्रकार जिसका जो विषय होता है वह उस विषयके कारण ह्रास अथवा वृद्धिको प्राप्त नहीं होता॥ ५॥



प्राण ही सबकी सृष्टि करता है

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

यह सुनिश्चित बात है कि जो पदार्थ विद्यमान होते हैं उन्हीं सबकी उत्पत्ति हुआ करती है। बीजात्मक प्राण ही सबकी उत्पत्ति करता है और चेतनात्मक पुरुष चैतन्यके आभासभूत जीवोंको अलग-अलग प्रकट करता है॥ ६ ॥

सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां प्रभव उत्पत्तिः। वक्ष्यति च—''वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते'' इति। यदि ह्यसतामेव जन्म स्याद्ब्रह्मणोऽव्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः। दृष्टं च रज्जुसर्पादीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वम्। न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्। यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवासीत्, एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्। इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति—''ब्रह्मैवेदम्'' (मु० उ० २। २। ११) ''आत्मैवेदमग्र आसीत्'' (बृ० उ० १। ४। १) इति।

सत् अर्थात् अपने अविद्याकृत नामरूपात्मक मायिक स्वरूपसे विद्यमान विश्व, तैजस और प्राज्ञ भेदवाले सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। आगे (प्रक० ३ का० २८ में) यह कहेंगे भी कि ''वन्ध्यापुत्र न तो वस्तुतः और न मायासे ही उत्पन्न होता है।'' यदि असत् (स्वरूपसे अविद्यमान) पदार्थोंकी ही उत्पत्ति हुआ करती तो अव्यवहार्य ब्रह्मको ग्रहण करनेका कोई मार्ग न रहनेसे उसकी असत्ताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता। अविद्याकृत मायामय बीजसे उत्पन्न हुए रज्जुसर्पादिकी भी रज्जु आदिरूपसे सत्ता देखी गयी है। किसी भी पुरुषने निराश्रय रज्जुसर्प अथवा मृगतृष्णा आदि कभी नहीं देखे। जिस प्रकार सर्पकी उत्पत्तिसे पूर्व वह रज्जुमें रज्जुरूपसे सत् ही था उसी प्रकार समस्त पदार्थ अपनी उत्पत्तिसे पूर्व प्राणात्मक बीजरूपसे सत् ही थे। इसीसे श्रुति भी कहती है—''यह ब्रह्म ही है'' ''पहले यह आत्मा ही था'' इत्यादि।

सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशूनंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंऽशवो ये तान्पुरुषः पृथग्विषयभावविलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत् सलक्षणाञ्जलार्कवच्च जीवलक्षणांस्त्वितरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति ''यथोर्णनाभिः'' (मु० उ० १ । १ । ७) ''यथाग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गाः'' (बृ० उ० २ । १ । २०) इत्यादि श्रुतेः ॥ ६ ॥

सब पदार्थोंको [बीजरूप] प्राण ही उत्पन्न करता है। तथा जो जलमें प्रतिविम्बित सूर्यके समान देव, मनुष्य और तिर्यगादि विभिन्न शरीरोंमें प्राज्ञ, तैजस एवं विश्वरूपसे भासमान चिदात्मक पुरुषके किरणरूप चिदाभास हैं, उन विषयभावसे विलक्षण तथा अग्निकी चिनगारी और जलमें प्रतिविम्बित सूर्यके समान सजातीय जीवोंको पुरुष अलग ही उत्पन्न करता है। उनके सिवाय अन्य समस्त पदार्थोंको बीजात्मक प्राण उत्पन्न करता है, जैसा कि ''जिस प्रकार मकड़ी [जाला बनाती है]'' तथा ''जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं'' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ॥ ६ ॥



सृष्टिके विषयमें भिन्न-भिन्न विकल्प

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

सृष्टिके विषयमें विचार करनेवाले दूसरे लोग भगवान्‌की विभूतिको ही जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं तथा दूसरे लोगोंद्वारा यह सृष्टि स्वप्न और मायाके समान मानी गयी है ॥ ७ ॥

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर

यह सृष्टि ईश्वरकी विभूति यानी उसका विस्तार है—ऐसा सृष्टिके विषयमें विचार करनेवाले लोग मानते हैं। तात्पर्य यह है कि परमार्थचिन्तन करनेवालोंका

इत्यर्थः। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २। ५। १९) इति श्रुतेः। न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति। तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढमायाविसमश्च तत्स्थः प्राज्ञतैजसादिः। सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी स एव भूमिष्ठो मायाछन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम्। अतस्तच्चिन्तायामेवादरो मुमुक्षूणामार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति ।

सृष्टिके विषयमें आदर नहीं होता; जैसा कि "इन्द्र (परमात्मा) मायासे अनेक रूपवाला हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, [केवल बहिर्मुख पुरुष ही उसकी उत्पत्तिके विषयमें तरह-तरहकी कल्पना किया करते हैं]। आकाशमें सूत फेंककर उसपर शस्त्रोंसहित आरूढ़ हो नेत्रेन्द्रियकी पहुँचसे परे जाकर युद्धके द्वारा अनेकों टुकड़ोंमें विभक्त होकर गिरे हुए मायावीको पुनः उठता देखनेवाले पुरुषोंको उसकी रची हुई माया आदिके स्वरूपके चिन्तनमें आदर नहीं होता। उस मायावीके सूत्रविस्तारके समान ही ये सुषुप्ति एवं स्वप्नादिके विकास हैं; तथा उस (सूत्र) पर चढ़े हुए मायावीके समान ही उन (सुषुप्ति आदि अवस्थाओं) में स्थित प्राज्ञ एवं तैजस आदि हैं। किन्तु वास्तविक मायावी तो सूत्र और उसपर चढ़े हुए मायावीसे भिन्न है और वही जैसे मायासे आच्छादित रहनेके कारण दिखलायी न देता हुआ ही पृथिवीपर स्थित रहता है वैसा ही तुरीयसंज्ञक परमार्थ तत्त्व भी है। अतः मोक्षकामी आर्य पुरुषोंका उसीके चिन्तनमें आदर होता है। प्रयोजनहीन सृष्टिमें उनका आदर नहीं होता। अतः ये सब विकल्प सृष्टिका चिन्तन करनेवालोंके ही हैं;

स्वप्नरूपा मायासरूपा चेति॥ ७॥

इसीसे कहा है—'स्वप्नमायासरूपा इति' अर्थात् [दूसरे इसे] स्वप्नरूपा और मायारूपा [बतलाते हैं]॥ ७॥



इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥ ८॥

कोई-कोई सृष्टिके विषयमें ऐसा निश्चय रखते हैं कि 'प्रभुकी इच्छा ही सृष्टि है।' तथा कालके विषयमें विचार करनेवाले [ज्योतिषी लोग] कालसे ही जीवोंकी उत्पत्ति मानते हैं॥ ८॥

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिः संकल्पनामात्रं न संकल्पनातिरिक्तम्। कालादेव सृष्टिरिति केचित्॥ ८॥

भगवान् सत्यसंकल्प हैं; अतः घटादिकी सृष्टि प्रभुका संकल्पमात्र है—उनके संकल्पसे भिन्न नहीं है। तथा कोई-कोई 'सृष्टि कालहीसे हुई है' ऐसा कहते हैं॥ ८॥



भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥ ९॥

कुछ लोग 'सृष्टि भोगके लिये है' ऐसा मानते हैं और कुछ 'क्रीडाके लिये है' ऐसा समझते हैं। [परन्तु वास्तवमें तो] यह भगवान्‌का स्वभाव ही है क्योंकि पूर्णकामको इच्छा ही क्या हो सकती है?॥ ९॥

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते। अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य, सर्वेषां वा पक्षाणामाप्तकामस्य का स्पृहेति।

दूसरे लोग सृष्टिको 'यह भोगार्थ अथवा क्रीडार्थ है'—ऐसा मानते हैं। 'देवस्यैष स्वभावोऽयम्' इस वाक्यसे देवके स्वभावपक्षका आश्रय लेकर इन दोनों पक्षोंको दोषयुक्त बतलाते हैं। अथवा 'आप्तकामस्य का स्पृहा' यह चौथा पाद

न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम्॥ ९॥

सभी पक्षोंको दोषयुक्त बतलानेवाला है; क्योंकि अविद्यारूप अपने स्वभावके बिना रज्जु आदिका सर्पादिकी अभिव्यक्तिमें कारणत्व नहीं बतलाया जा सकता॥ ९॥



चतुर्थ पादका विवरण

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह—नान्तःप्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति।

अब क्रमसे प्राप्त हुआ चौथा पाद भी बतलाना है, अतः यही बात 'नान्तः-प्रज्ञम्' इत्यादि मन्त्रसे कहते हैं। वह (चौथा पाद) सम्पूर्ण शब्दप्रवृत्तिके निमित्तसे रहित है, अतः शब्दसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिये श्रुति [अन्तःप्रज्ञत्व आदि] विशेष भावका प्रतिषेध करके ही उस तुरीयका निर्देश करनेमें प्रवृत्त होती है।

शून्यमेव तर्हि तत्।

पूर्व०—तब तो वह शून्यरूप ही हुआ।

न; मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः। न हि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादिव्यतिरेकेणावस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम्।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि मिथ्या विकल्पका बिना किसी निमित्तके होना सम्भव नहीं है। चाँदी, सर्प, पुरुष और मृगतृष्णा आदि विकल्प [क्रमशः] सीपी, रस्सी, ठूँठ और ऊसर आदिके बिना निराश्रय ही कल्पना नहीं किये जा सकते।

एवं तर्हि प्राणादिसर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वम्

पूर्व०— यदि ऐसी बात है तब तो प्राणादि सम्पूर्ण विकल्पका आश्रय होनेके कारण वह तुरीय शब्दका वाच्य सिद्ध

इति न प्रतिषेधैः प्रत्याय्यत्वम् उदकाधारादेरिव घटादेः।

न; प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः। न हि सदसतोः सम्बन्धः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभागवस्तुत्वात्। नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत्; आत्मनो निरुपाधिकत्वात्। गवादिवन्नापि जातिमत्त्वमद्वितीयत्वेन सामान्यविशेषाभावात्। नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात्। नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात्। अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति।

शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि।

होता है; जलके आधारभूत घट आदिके समान [अन्तःप्रज्ञत्वादिके] प्रतिषेधद्वारा उसकी प्रतीति नहीं करायी जा सकती।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि शुक्ति आदिमें प्रतीत होनेवाली चाँदी आदिके समान प्राणादि विकल्प असद्रूप है। तथा सत् और असत्का सम्बन्ध अवस्तुरूप होनेके कारण शब्दकी प्रवृत्तिका हेतु नहीं हो सकता; और न गौ आदिके समान वह स्वरूपसे किसी अन्य प्रमाणका ही विषय हो सकता है, क्योंकि आत्मा उपाधिरहित है। इसी प्रकार अद्वितीयरूप होनेके कारण सामान्य अथवा विशेष भावका अभाव होनेसे उसमें गौ आदिके समान जातिमत्त्व भी नहीं है। और न अविकारी होनेके कारण उसमें पाचकादिके समान क्रियावत्त्व तथा निर्गुण होनेके कारण नीलता आदिके समान गुणवत्त्व ही है। इसलिये उसका किसी भी नामसे निर्देश नहीं किया जा सकता।

पूर्व०—तब तो शशशृङ्गादिके समान [असद्रूप होनेके कारण] उसकी निरर्थकता ही सिद्ध होती है।

तुरीयावगमस्य सार्थकत्वम्

न; आत्मत्वावगमे तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः। न हि तुरीयस्यात्मत्वावगमे सत्यविद्यातृष्णादिदोषाणां सम्भवोऽस्ति। न च तुरीयस्यात्मत्वानवगमे कारणमस्ति; सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात्। "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६। ८। १६) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० उ० २।५।१९)। "तत्सत्यं स आत्मा" (छा० उ० ६। ८। १६) "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (बृ० उ० ३। ४। १)। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २। १। २) "आत्मैवेद ँ सर्वम्" (छा० उ० ७। २५। २) इत्यादीनाम्।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि शुक्तिका ज्ञान होनेपर जिस प्रकार [उसमें आरोपित] चाँदीकी तृष्णा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार तुरीय हमारा आत्मा है—ऐसा ज्ञान होनेपर वह अनात्मसम्बन्धिनी तृष्णाको निवृत्त करनेका कारण होता है। तुरीयको अपना आत्मा जान लेनेपर अविद्या एवं तृष्णादि दोषोंकी सम्भावना नहीं रहती। और तुरीयको अपने आत्म-स्वरूपसे न जाननेका कोई कारण भी नहीं है, क्योंकि "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्सत्यं स आत्मा" "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" "आत्मैवेद ँ सर्वम्" इत्यादि समस्त उपनिषद्वाक्यों-का पर्यवसान इसी अर्थमें हुआ है।

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसममुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानीयम्। अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थान-

वह यह आत्मा परमार्थ और अपरमार्थरूपसे चार पादवाला है—ऐसा कहा है। उसका बीजाङ्कुरस्थानीय पादत्रयस्वरूप अपरमार्थरूप रज्जुसर्पादिके समान अविद्याजनित कहा गया है। अब सर्पादिस्थानीय उक्त तीनों पादोंका निराकरण कर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि

त्रयनिराकरणेनाह—नान्तःप्रज्ञमित्यादि।

रूपसे उसके रज्जुस्थानीय अबीजात्मक परमार्थस्वरूपका वर्णन करते हैं—



तुरीयका स्वरूप

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ ७॥

[विवेकीजन] तुरीयको ऐसा मानते हैं कि वह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः (अन्तर्बहिः) प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। बल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चका उपशम, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है। वही आत्मा है और वही साक्षात् जाननेयोग्य है॥ ७॥

नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे नान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः।

पूर्व०—किन्तु आत्मा चार पादोंवाला है—ऐसी प्रतिज्ञा कर उसके तीन पादोंका वर्णन कर देनेसे ही चौथे पादका अन्तःप्रज्ञादि विशेषणोंसे भिन्न होना तो सिद्ध ही है; अतः यह "नान्तःप्रज्ञम्" इत्यादि प्रतिषेध तो व्यर्थ ही है।

आत्मावगतौ अनात्मप्रतिषेध एव प्रमाणम्

न; सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्र्यवस्थस्यैवात्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्; तत्त्वमसीतिवत्।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सर्पादि विकल्पका प्रतिषेध करनेसे ही रज्जुके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार, जैसा कि "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यमें देखा जाता है, यहाँ [जाग्रदादि] तीनों अवस्थाओंमें स्थित आत्माका ही

यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयमन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा। रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एवान्तः-प्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते यदा तदान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधविज्ञान-प्रमाणसमकालमेवात्मन्यनर्थ-प्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तम्, इति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम्। रज्जुसर्पविवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य।

तुरीयरूपसे प्रतिपादन करना इष्ट है। यदि तुरीय आत्मा अवस्थात्रयविशिष्ट आत्मासे सर्वथा भिन्न होता तो उसकी उपलब्धिका कोई उपाय न रहनेके कारण शास्त्रोपदेशकी व्यर्थता अथवा शून्यवादकी प्राप्ति हो जाती। जब कि सर्पादि (सर्प, धारा, भूच्छिद्रादि) रूपसे विकल्पित रज्जुके समान [जाग्रदादि] तीनों स्थानोंमें एक ही आत्मा अन्तः-प्रज्ञादिरूपसे विकल्पित हो रहा है तब तो अन्तःप्रज्ञत्वादिके प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणकी उत्पत्तिके समकाल ही आत्मामें अनर्थप्रपञ्चकी निवृत्तिरूप फल सिद्ध हो जाता है; अतः तुरीयका साक्षात्कार करनेके लिये इसके सिवा किसी अन्य प्रमाण अथवा साधनकी खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है; जैसे कि रज्जु और सर्पका विवेक होनेके समानकालमें ही रज्जुमें सर्पनिवृत्तिरूप फलकी प्राप्ति होते ही रज्जुका ज्ञान हो जाता है [उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये]।

येषां पुनस्तमोऽपनयव्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसम्बन्धवियोग-

किन्तु जिनके मतमें घटज्ञानमें अन्धकारकी निवृत्तिके सिवा किसी और कार्यमें भी प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है उनका तो मानो ऐसा कथन है कि छेद्य पदार्थोंके अवयवोंका सम्बन्धविच्छेद

व्यतिरेकेणान्यतरावयवेऽपिच्छिदिर्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात्।

यदा पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमोनिवृत्तिफलावसानं छिदिरिवच्छेद्यावयवसम्बन्धविवेककरणे प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना तदा नान्तरीयकं घटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम्।

न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्य अनुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोप-

करनेके अतिरिक्त भी छेदनक्रियाका वस्तुके किसी एक अवयवमें कोई व्यापार होता है।*

छेद्य[1] अवयवोंका सम्बन्धच्छेद करनेमें प्रवृत्त छेदनक्रिया जिस प्रकार उसके अवयवोंके विभक्त हो जानेमें समाप्त होनेवाली है उसी प्रकार जब कि घट और अन्धकारका पार्थक्य करनेमें प्रवृत्त प्रमाण अनिष्ट अन्धकारकी निवृत्तिरूप फलमें ही समाप्त हो जानेवाला है तब घटज्ञान तो अवश्यम्भावी है, वह प्रमाणका फल नहीं है।

उसीके समान आत्मामें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादिके विवेक करनेमें प्रवृत्त प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणका, अनुपादित्सित (जिसका स्वीकार करना इष्ट नहीं है उस) अन्तःप्रज्ञत्वादिकी निवृत्तिके सिवा तुरीय आत्मामें कोई अन्य व्यापार होना

* तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्धकारमें रहते हुए घटका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अन्धकारकी निवृत्तिमात्र ही आवश्यक है, अन्य किसी क्रियाकी अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार तुरीयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उसमें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादिका निषेध ही कर्त्तव्य है। जो लोग घटज्ञानमें अन्धकार-निवृत्तिके सिवा उसके उत्पादक प्रमाणका कोई और व्यापार भी स्वीकार करते हैं वे मानो ऐसा कहते हैं कि छेदनक्रिया छेद्यपदार्थके अवयवोंका सम्बन्धच्छेद करनेके सिवा उसके किसी भी अवयवमें कोई अन्य कार्य भी कर देती है। परन्तु यह बात सर्वसम्मत है कि छेदनक्रियाका अवयवविश्लेषणके सिवा कोई अन्य व्यापार नहीं होता। इसीलिये उनका कथन माननीय नहीं है।

१. यदि प्रमाण अज्ञानका ही निवर्तक है तो विषयके स्फुरण होनेका तो कोई कारण दिखायी नहीं देता; अतः विषयज्ञान होना ही नहीं चाहिये—ऐसी आशङ्का करके आगेकी बात कहते हैं।

पत्तिः। अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः। तथा च वक्ष्यति—''ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'' (माण्डू० का० १। १८) इति। ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानवस्थानात्। अवस्थाने चानवस्थाप्रसङ्गाददद्वैतानिवृत्तिः। तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम्।

सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्तःप्रज्ञत्वादिकी निवृत्तिके समकालमें ही प्रमातृत्वादि भेदकी निवृत्ति हो जाती है। ऐसा ही ''ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता'' इत्यादि वाक्यद्वारा आगे कहेंगे भी; क्योंकि वृत्तिज्ञानकी भी स्थिति द्वैतनिवृत्तिके क्षणके सिवा दूसरे क्षणमें नहीं रहती; और यदि स्थिति मानी जाय तो अनवस्थाका प्रसङ्ग* उपस्थित हो जानेसे द्वैतकी निवृत्ति ही नहीं होगी। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणके प्रवृत्त होनेके समकालमें ही आत्मामें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादि अनर्थकी निवृत्ति हो जाती है।

नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः। न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोः। अन्तरालावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः। बीजभावाविवेकरूपत्वात्। न

'अन्तःप्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर तैजसका प्रतिषेध किया है; 'बहिष्प्रज्ञ नहीं है' इससे विश्वका निषेध किया है; 'उभयतःप्रज्ञ नहीं है' इस वाक्यसे जाग्रत् और स्वप्नके बीचकी अवस्थाका प्रतिषेध किया है; 'प्रज्ञानघन नहीं है' इससे सुषुप्तिका प्रतिषेध हुआ है, क्योंकि वह बीजभावमय-

* अद्वैत-बोधके लिये जिन-जिन प्रमाणोंका आश्रय लिया जाता है वे सब द्वैतप्रपञ्चके ही अन्तर्गत हैं। निखिलद्वैतकी निवृत्ति करनेवाला वृत्तिज्ञान भी वृत्तिरूप होनेके कारण द्वैतके ही अन्तर्गत है। यदि वह सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति करके भी बना रहे तो उसकी निवृत्तिके लिये किसी अन्य वृत्तिकी अपेक्षा होगी और उसके लिये किसी तीसरीकी। इस प्रकार अनवस्था-दोष उपस्थित हो जायगा और द्वैतकी निवृत्ति कभी न हो पावेगी। इसलिये निखिलद्वैतकी निवृत्ति करनेके उत्तर-क्षणमें ही वृत्तिज्ञान स्वयं भी निवृत्त हो जाता है—यही मत समीचीन है।

प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्वप्रतिषेधः। नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः।

कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्वं गम्यत इत्युच्यते। ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपि इतरेतरव्यभिचाराद्रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पितभेदवत् सर्वत्राव्यभिचाराज्ज्ञस्वरूपस्य सत्यत्वम्।

सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न। सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात्। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४। ३। ३०) इति श्रुतेः।

अत एवादृष्टम्। यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः। अलक्षणमलिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थः। अत एवाचिन्त्यम्। अत एवाव्यपदेश्यं

अविवेकस्वरूपा है; 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयोंके ज्ञातृत्वका प्रतिषेध किया है; तथा 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे अचेतनताका निषेध किया है।

किन्तु जब कि अन्तःप्रज्ञत्वादि धर्म आत्मामें प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं तो केवल प्रतिषेधके ही कारण उनका रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पादिके समान असत्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? इसपर कहते हैं—रज्जु आदिमें प्रतीत होनेवाले सर्प, धारा आदि विकल्पभेदोंके समान उनके चित्स्वरूपमें कोई भेद न होनेपर भी परस्पर एक-दूसरेका व्यभिचार होनेके कारण वे असद्रूप हैं। किन्तु चित्स्वरूपका कहीं भी व्यभिचार नहीं है; इसलिये वह सत्य है।

यदि कहो कि सुषुप्तिमें उसका व्यभिचार होता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिका भी अनुभव हुआ करता है; जैसा कि "विज्ञाताकी विज्ञातिका लोप नहीं होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

इसीलिये वह अदृश्य है। और क्योंकि अदृश्य है इसलिये अव्यवहार्य है तथा कर्मेन्द्रियोंसे अग्राह्य और अलक्षण यानी लिङ्गरहित है। तात्पर्य यह है कि उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। इसीसे वह अचिन्त्य है अतएव शब्दोंद्वारा

शब्दैः। एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी यः प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम्। अथवैक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम्। ''आत्मेत्येवोपासीत'' (बृ० उ० १। ४। ७) इति श्रुतेः।

अकथनीय है। वह एकात्मप्रत्ययसार है। अर्थात् जाग्रत् आदि स्थानोंमें एक ही आत्मा है—ऐसा जो अव्यभिचारी प्रत्यय है उससे अनुसरण किये जानेयोग्य है। अथवा ''आत्मा है—इस प्रकार ही उपासना करे'' इस श्रुतिके अनुसार जिस तुरीयका ज्ञान प्राप्त करनेमें एक आत्मप्रत्यय ही सार यानी प्रमाण है वह तुरीय एकात्मप्रत्ययसार है।

अन्तःप्रज्ञत्वादिस्थानिधर्मप्रतिषेधः कृतः। प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते। अत एव शान्तमविक्रियम्, शिवं यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितम्। चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते; प्रतीयमानपादत्रयरूपवैलक्षण्यात्। स आत्मा स विज्ञेय इति प्रतीयमानसर्पभूच्छिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ आत्मा ''अदृष्टो द्रष्टा'' (बृ० उ० ३। ७। २३) ''न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो

अन्तःप्रज्ञत्वादि स्थानियों (जाग्रत् आदि अवस्थाओंके अभिमानियों) के धर्मोंका प्रतिषेध किया गया, अब 'प्रपञ्चोपशमम्' इत्यादिसे जाग्रत् आदि स्थानों (अवस्थाओं) के धर्मोंका अभाव बतलाया जाता है। इसीलिये वह शान्त यानी अविकारी है; और क्योंकि वह अद्वैत अर्थात् भेदरूप विकल्पसे रहित है, इसलिये शिव है। उसे चतुर्थ यानी तुरीय मानते हैं; क्योंकि यह प्रतीत होनेवाले पूर्वोक्त तीन पादोंसे विलक्षण है। वही आत्मा है और वही ज्ञातव्य है। अतः जिस प्रकार रज्जु अपनेमें प्रतीत होनेवाले सर्प, दण्ड और भूच्छिद्र आदिसे सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका अर्थस्वरूप आत्मा, जिसका कि ''अदृश्य होकर भी देखनेवाला है'' ''द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता'' इत्यादि श्रुतियोंने प्रतिपादन

विद्यते" (बृ० उ० ४। ३। २३) इत्यादिभिरुक्तो यः। स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या; ज्ञाते द्वैताभावः॥ ७॥

किया है, [अपनेमें अध्यस्त जाग्रदादि अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न है।] वही ज्ञातव्य है—ऐसा भूतपूर्वगतिसे* कहा जाता है, क्योंकि उसका ज्ञान होनेपर द्वैतका अभाव हो जाता है॥ ७॥



तुरीयका प्रभाव

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक हैं—

निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥ १०॥

तुरीय आत्मा सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्तिमें ईशान—प्रभु (समर्थ) है। वह अविकारी, सब पदार्थोंका अद्वैतरूप, देव, तुरीय और व्यापक माना गया है॥ १०॥

प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा। ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति। दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभुर्भवतीत्यर्थः। तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद्दुःखनिवृत्तेः।

अव्ययो न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत्। एतत्कुतः,

तुरीय आत्मा प्राज्ञ, तैजस और विश्वरूप समस्त दुःखोंकी निवृत्तिमें ईशान है। 'ईशान' इस पदकी व्याख्या 'प्रभु' है। तात्पर्य यह है कि वह दुःखनिवृत्तिमें समर्थ है, क्योंकि उसका विज्ञान दुःखनिवृत्तिका कारण है।

अव्यय—जो व्यय (विकार) को प्राप्त नहीं होता; अर्थात् जो स्वरूपसे व्यभिचरित यानी च्युत नहीं होता। क्यों

*अर्थात् अविद्यावस्थामें आत्मामें जो ज्ञेयत्व मान रखा था उसीका आश्रय लेकर तुरीयको 'ज्ञातव्य' कहा जाता है। वास्तवमें तो जो अव्यवहार्य और अप्रमेय है उसे ज्ञातव्य भी नहीं कहा जा सकता।

यस्मादद्वैतः। सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात्स एष देवो द्योतनात्तुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी स्मृतः॥ १०॥

च्युत नहीं होता? क्योंकि वह अद्वैत है। अन्य सब पदार्थ रज्जुमें अध्यस्त सर्पके समान मिथ्या हैं; इसलिये प्रकाशनशील होनेके कारण वह यह देव तुर्य यानी चतुर्थ और विभु यानी व्यापक माना गया है॥ १०॥



विश्व और तैजससे तुरीयका भेद

विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्यावधारणार्थम्—

तुरीयका यथार्थ स्वरूप समझनेके लिये विश्व आदिके सामान्य और विशेष भावका निरूपण किया जाता है—

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः॥ ११॥

विश्व और तैजस—ये दोनों कार्य (फलावस्था) और कारण (बीजावस्था) से बँधे हुए माने जाते हैं; किन्तु प्राज्ञ केवल कारणावस्थासे ही बद्ध है। तथा तुरीयमें तो ये दोनों ही नहीं हैं॥ ११॥

कार्यं क्रियत इति फलभावः। कारणं करोतीति बीजभावः। तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते। प्राज्ञस्तु बीजभावेनैव बद्धः। तत्त्वाप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं

जो किया जाय उसे कार्य कहते हैं; वह फलभाव है। और जो करता है उसे कारण कहते हैं; वह बीजभाव है। ये उपर्युक्त विश्व और तैजस तत्त्वके अग्रहण एवं अन्यथाग्रहणरूप बीजभाव और फलभावसे बँधे अर्थात् सम्यक् प्रकारसे पकड़े हुए माने जाते हैं। किन्तु प्राज्ञ केवल बीजभावसे ही बँधा हुआ है। तत्त्वका अप्रतिबोधरूप बीज ही उसके

प्राज्ञत्वे निमित्तम्। ततो द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिध्यतो न विद्येते न सम्भवत इत्यर्थः॥ ११॥

प्राज्ञत्वमें कारण है। इससे तात्पर्य यह है कि तुरीयमें वे बीज और फलभावरूप तत्त्वका अग्रहण एवं अन्यथा ग्रहण दोनों ही नहीं रहते; उनकी तो वहाँ रहनेकी सम्भावना ही नहीं है॥ ११॥



प्राज्ञसे तुरीयका भेद

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिध्यत इति। यस्मात्—

किन्तु प्राज्ञकी कारणबद्धता किस प्रकार है? तथा तुरीयमें तत्त्वका अग्रहण और अन्यथाग्रहणरूप बन्धन कैसे सिद्ध नहीं होते? इसपर कहते हैं, क्योंकि—

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा॥ १२॥

प्राज्ञ तो न अपनेको, न परायेको और न सत्यको अथवा अनृतको ही जानता है किन्तु वह तुरीय सर्वदा सर्वदृक् है॥ १२॥

आत्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किञ्चन संवेत्ति यथा विश्वतैजसौ। ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसान्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति। यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्याभावात्सर्वदा सदैवेति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्तस्मान्न

प्राज्ञ आत्मासे भिन्न अविद्यारूप बीजसे उत्पन्न हुए बहिःस्थित वेद्यपदार्थरूप द्वैतको कुछ भी नहीं जानता, जैसा कि विश्व और तैजस उसे जानते हैं। इसीलिये यह अन्यथाग्रहणके बीजभूत तत्त्वाग्रहणरूप अन्धकारसे बँधा रहता है। और क्योंकि तुरीयसे भिन्न पदार्थका सर्वथा अभाव होनेके कारण वह सदा-सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप ही है—जो सर्वरूप और उसका साक्षी भी हो उसे 'सर्वदृक्' कहते हैं—इसलिये उसमें

तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजं तत्र। तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावो न हि सवितरि सदा प्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथाप्रकाशनं वा सम्भवति। ''न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'' (बृ० उ० ४। ३। २३) इति श्रुतेः।

अथवा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा। ''नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ'' (बृ० उ० ३। ८। ११) इत्यादिश्रुतेः॥ १२॥

तत्त्वका अग्रहणरूप बीजावस्था नहीं है और इसीलिये उसमें उससे उत्पन्न होनेवाले अन्यथाग्रहणका भी अभाव है, क्योंकि सदा प्रकाशस्वरूप सूर्यमें उसके विपरीत अप्रकाशन अथवा अन्यथा-प्रकाशन सम्भव नहीं है, जैसा कि ''द्रष्टाकी दृष्टिका विपरिलोप नहीं होता'' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

अथवा जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थाके सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और समस्त पदार्थोंके साक्षीरूपसे तुरीय ही भासमान है इसलिये वह सर्वदा सर्वसाक्षी है, जैसा कि ''इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है'' इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है॥ १२॥



द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते॥ १३॥

द्वैतका अग्रहण तो प्राज्ञ और तुरीय दोनोंहीको समान है, किन्तु प्राज्ञ बीजस्वरूपा निद्रासे युक्त है और तुरीयमें वह निद्रा है नहीं॥ १३॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः। कथं द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ताशङ्का निवर्त्त्यते।

यह श्लोक निमित्तान्तरसे प्राप्त आशङ्काकी निवृत्तिके लिये है। भला द्वैताग्रहणकी समानता होनेपर भी प्राज्ञकी ही कारणबद्धता क्यों है? तुरीयकी क्यों नहीं है?—इस प्रकार प्राप्त हुई आशङ्काको ही निवृत्त किया जाता है।

यस्माद्बीजनिद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा, सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्; सा बीजनिद्रा, तया युतः प्राज्ञः। सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते। अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः॥ १३॥

[इसका यह कारण है] क्योंकि वह (प्राज्ञ) बीजनिद्रासे युक्त है—तत्त्वके अज्ञानका नाम निद्रा है, वही विशेष विज्ञानकी उत्पत्तिका बीज है; अतः उसे 'बीजनिद्रा' कहते हैं—प्राज्ञ उससे युक्त है। किन्तु सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप होनेके कारण तुरीयमें वह बीजनिद्रा नहीं है; अतः उसमें कारणबद्धता नहीं है—यह इसका तात्पर्य है॥ १३॥



तुरीयका स्वप्न-निद्राशून्यत्व

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः॥ १४॥

विश्व और तैजस—ये स्वप्न और निद्रासे युक्त हैं तथा प्राज्ञ स्वप्नरहित निद्रासे युक्त है; किन्तु निश्चित पुरुष तुरीयमें न निद्रा ही देखते हैं और न स्वप्न ही॥ १४॥

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम्। निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति। ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ। अतस्तौ कार्यकारणबद्धावित्युक्तौ। प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जितकेवलयैव निद्रया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम्। नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः।

रज्जुमें सर्प-ग्रहणके समान अन्यथाग्रहणका नाम स्वप्न है; तथा तत्त्वके अप्रतिबोधरूप तमको निद्रा कहते हैं। उन स्वप्न और निद्रासे विश्व और तैजस युक्त हैं; अतः वे कार्यकारणबद्ध कहे गये हैं। किन्तु प्राज्ञ तो स्वप्नरहित केवल निद्रासे ही युक्त है; इसलिये उसे कारणबद्ध कहा है। निश्चित यानी ब्रह्मवेत्तालोग तुरीयमें ये दोनों ही बातें नहीं देखते, क्योंकि सूर्यमें अन्धकारके समान वे उससे विरुद्ध हैं। अतः तुरीय

अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः॥ १४॥

कार्य अथवा कारणसे बँधा हुआ नहीं है—ऐसा कहा गया है॥ १४॥



कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते—

अब यह बतलाया जाता है कि मनुष्य तुरीयमें कब निश्चित होता है—

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥ १५॥

अन्यथाग्रहण करनेसे स्वप्न होता है तथा तत्त्वको न जाननेसे निद्रा होती है और इन दोनों विपरीत ज्ञानोंका क्षय हो जानेपर तुरीय पदकी प्राप्ति होती है॥ १५॥

स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्णतस्तत्त्वं स्वप्नो भवति। निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या। स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम्। अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः। तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणा निद्रैव केवला विपर्यासः।

रज्जुमें सर्पग्रहणके समान स्वप्न और जागरित अवस्थाओंमें तत्त्वके अन्यथाग्रहणसे स्वप्न होता है तथा तत्त्वके न जाननेसे निद्रा होती है, जो तीनों अवस्थाओंमें तुल्य है। इस प्रकार स्वप्न और निद्रामें तुल्य होनेके कारण विश्व और तैजसकी एक राशि है। उनमें अन्यथाग्रहणकी प्रधानता होनेके कारण निद्रा गौण है; अतः उन अवस्थाओंमें स्वप्नरूप विपरीत ज्ञान रहता है। किन्तु तृतीय स्थान (सुषुप्ति) में केवल तत्त्वाग्रहणरूप निद्रा ही विपर्यास है।

अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोरन्यथाग्रहणाग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थ-

अतः उन कार्यकारणरूप स्थानोंके अन्यथाग्रहण और तत्त्वाग्रहणरूप विपर्यासोंका परमार्थतत्त्वके बोधसे क्षय

तत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते। तदोभयलक्षणं बन्धरूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

हो जानेपर तुरीय पदकी प्राप्ति होती है। तब उस अवस्थामें दोनों प्रकारका बन्धन न देखनेसे पुरुष तुरीयमें निश्चित हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ १५ ॥



बोध कब होता है?

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ १६ ॥

जिस समय अनादि मायासे सोया हुआ जीव जागता है [अर्थात् तत्त्वज्ञान लाभ करता है] उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्वका बोध प्राप्त होता है॥ १६ ॥

योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनान्यथाग्रहणलक्षणेन च अनादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान्स्वप्नान् स्थानद्वयेऽपि पश्यन्सुप्तः।

यह जो संसारी जीव है वह तत्त्वाप्रतिबोधरूप बीजात्मिका एवं अन्यथाग्रहणरूप अनादिकालसे प्रवृत्त मायारूप निद्राके कारण [स्वप्न और जागरित] दोनों ही अवस्थाओंमें 'यह मेरा पिता है, यह पुत्र है, यह नाती है, ये मेरे क्षेत्र, गृह और पशु हैं, मैं इनका स्वामी हूँ तथा इनके कारण सुखी-दुःखी, क्षीण और वृद्धिको प्राप्त होता हूँ' इत्यादि प्रकारके स्वप्न देखता हुआ सो रहा है।

यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किं तु तत्त्व-

जिस समय वेदान्तार्थके तत्त्वको जाननेवाले किसी परम कारुणिक गुरुके द्वारा 'तू इस प्रकार हेतु एवं फलस्वरूप

मसीति प्रतिबोध्यमानः, तदैवं प्रतिबुध्यते—

कथम्? नास्मिन्बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः। यस्माज्जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्। अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम्; तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा॥ १६॥

नहीं है, किन्तु तू वही है' इस प्रकार जगाया जाता है उस समय उसे ऐसा बोध प्राप्त होता है—

किस प्रकारका बोध होता है? [सो बतलाते हैं—] इसमें बाह्य अथवा आभ्यन्तर जन्मादि भाव विकार नहीं है, इसलिये यह अजन्मा यानी सम्पूर्ण भाव-विकारोंसे रहित है। और क्योंकि इसमें जन्मादिकी कारणभूत तथा अविद्यारूप अन्धकारकी बीजभूत अविद्या नहीं है इसलिये यह अनिद्र है। वह तुरीय अनिद्र है, इसीलिये अस्वप्न भी है; क्योंकि अन्यथाग्रहण तो [तत्त्वाप्रतिबोधरूप] निद्राहीके कारण हुआ करता है। इस प्रकार क्योंकि वह अनिद्र और अस्वप्न है इसलिये ही उस समय अजन्मा और अद्वैत तुरीय आत्माका बोध होता है॥ १६॥



प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैतमित्युच्यते—

यदि बोध प्रपञ्चनिवृत्तिसे ही होता है तो जबतक प्रपञ्चकी निवृत्ति न हो तबतक अद्वैत कैसा? इसपर कहा जाता है—

प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥ १७॥

प्रपञ्च यदि होता तो निवृत्त हो जाता—इसमें सन्देह नहीं। किन्तु [वास्तवमें] यह द्वैत तो मायामात्र है, परमार्थत: तो अद्वैत ही है॥ १७॥

सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्येत, रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते। विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशय:। न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पित: सर्पो विद्यमान: सन्विवेकतो निवृत्त:। नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता। तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित्प्रपञ्च: प्रवृत्तो निवृत्तो वास्तीत्यभिप्राय:॥ १७॥

यदि प्रपञ्च विद्यमान होता तो सचमुच ऐसा ही होता; किन्तु वह तो रज्जुमें सर्पके समान कल्पित होनेके कारण [वस्तुत:] है ही नहीं। यदि वह होता तो इसमें सन्देह नहीं, निवृत्त भी हो जाता। रज्जुमें भ्रमबुद्धिसे कल्पना किया हुआ सर्प [वस्तुत:] विद्यमान रहते हुए विवेकसे निवृत्त नहीं होता। मायावीद्वारा फैलायी हुई माया, देखनेवालोंके दृष्टिबन्धनके हटाये जानेपर, पहले विद्यमान रहती हुई निवृत्त नहीं होती। इसी प्रकार यह प्रपञ्चसंज्ञक द्वैत भी मायामात्र ही है; परमार्थत: तो रज्जु अथवा मायावीके समान अद्वैत ही है। अत: तात्पर्य यह है कि कोई भी प्रपञ्च प्रवृत्त अथवा निवृत्त होनेवाला नहीं है॥ १७॥



गुरु-शिष्यादि विकल्प व्यावहारिक है

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्प: कथं निवर्तत इत्युच्यते—

यदि कहो कि शासक, शास्त्र और शिष्य—इस प्रकारका विकल्प किस प्रकार निवृत्त हो सकता है? तो इसपर कहा जाता है—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥ १८॥

इस [गुरु-शिष्यादि] विकल्पकी यदि किसीने कल्पना की होती तो यह निवृत्त भी हो जाता। यह [गुरु-शिष्यादि] वाद तो उपदेशके ही लिये है। आत्मज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता॥ १८॥

विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात्। यथायं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्तथायं शिष्यादिभेदविकल्पोऽपि प्राक् प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तोऽत उपदेशादयं वादः शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति। उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निर्वृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते॥ १८॥

यदि किसीने इसकी कल्पना की होती तो यह विकल्प निवृत्त हो जाता। जिस प्रकार यह प्रपञ्च माया और रज्जुसर्पके सदृश है उसी प्रकार यह शिष्यादि भेदविकल्प भी आत्मज्ञानसे पूर्व ही उपदेशके निमित्तसे है। अतः शिष्य, शासक और शास्त्र—यह वाद उपदेशके ही लिये है। उपदेशके कार्यस्वरूप ज्ञानके निष्पन्न होनेपर, अर्थात् परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर द्वैतकी सत्ता नहीं रहती॥ १८॥



आत्मा और उसके पादोंके साथ ओङ्कार और उसकी मात्राओंका तादात्म्य

अभिधेयप्रधान ओङ्कारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यः—

अबतक जिस ओङ्काररूप चतुष्पाद् आत्माका अभिधेय (वाच्यार्थ) की प्रधानतासे वर्णन किया है—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति॥ ८॥

वह यह आत्मा अक्षरदृष्टिसे ओङ्कार है; वह मात्राओंको विषय करके स्थित है। पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं; वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं॥ ८॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमक्षरमधिकृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम्। किं पुनस्तदक्षरमित्याह, ओङ्कारः। सोऽयमोङ्कारः पादशः प्रविभज्यमानः, अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम्। कथम्? आत्मनो ये पादास्त ओङ्कारस्य मात्राः। कास्ताः? अकार उकारो मकार इति॥ ८॥

वह यह आत्मा अध्यक्षर है; अक्षरका आश्रय लेकर जिसका अभिधानकी प्रधानतासे वर्णन किया जाय उसे अध्यक्षर कहते हैं। किन्तु वह अक्षर है क्या? इसपर कहते हैं—वह ओङ्कार है। वह यह ओङ्कार पादरूपसे विभक्त किये जानेपर अधिमात्र यानी मात्राको आश्रय करके वर्तमान रहता है, इसलिये इसे 'अधिमात्र' कहते हैं। सो किस प्रकार? क्योंकि आत्माके जो पाद हैं वे ही ओङ्कारकी मात्राएँ हैं। वे मात्राएँ कौन-सी हैं? अकार, उकार और मकार—ये ही [वे मात्राएँ हैं]॥ ८॥



अकार और विश्वका तादात्म्य

तत्र विशेषनियमः क्रियते—

अब उनमें विशेष नियम किया जाता है—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥ ९॥

जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्वके कारण [ओङ्कारकी] पहली मात्रा अकार है। जो उपासक इस प्रकार जानता है वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और [महापुरुषोंमें] आदि (प्रधान) होता है॥ ९॥

मकार और प्राज्ञका तादात्म्य

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद॥ ११॥

सुषुप्ति जिसका स्थान है वह प्राज्ञ मान और लयके कारण ओङ्कारकी तीसरी मात्रा मकार है। जो उपासक ऐसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत्का मान—प्रमाण कर लेता है और उसका लयस्थान हो जाता है॥ ११॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओङ्कारस्य मकारस्तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह सामान्यमिदमत्र; मितेर्मितिर्मानं मीयते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः। यथोङ्कारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे।

सुषुप्तिस्थानवाला जो प्राज्ञ है वह ओङ्कारकी तीसरी मात्रा मकार है। किस समानताके कारण? सो बतलाते हैं—यहाँ इनमें यह समानता है—ये मितिके कारण [समान हैं]। मिति मानको कहते हैं; जिस प्रकार प्रस्थ (एक प्रकारके बाट) से जौ तौले जाते हैं उसी प्रकार प्रलय और उत्पत्तिके समय मानो प्रवेश और निर्गमनके द्वारा प्राज्ञसे विश्व और तैजस मापे जाते हैं; क्योंकि ओङ्कारकी समाप्तिपर उसका पुनः प्रयोग किये जानेपर मानो अकार और उकार, मकारमें प्रवेश करके उससे पुनः निकलते हैं।

अपीतेर्वा। अपीतिरप्यय एकीभावः। ओङ्कारोच्चारणे ह्यन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारोकारौ। तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तकाले

अथवा अपीतिके कारण भी उनमें एकता है। अपीति अप्यय अर्थात् एकीभावको कहते हैं। क्योंकि [जिस प्रकार] ओङ्कारका उच्चारण करनेपर अकार और उकार अन्तिम अक्षरमें एकीभूत-से हो जाते हैं उसी प्रकार सुषुप्तिके समय

प्राज्ञे। अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमकारयोः।

विश्व और तैजस प्राज्ञमें लीन हो जाते हैं। सो, इस समानताके कारण भी प्राज्ञ और मकारकी एकता है।

विद्वत्फलमाह; मिनोति ह वा इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः। अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः। अत्रावान्तरफलवचनं प्रधान-साधनस्तुत्यर्थम्॥ ११॥

अब इस प्रकार जाननेवालेको जो फल मिलता है वह बतलाते हैं—[जो ऐसा जानता है] वह इस सम्पूर्ण जगत्को माप लेता है, अर्थात् इसका यथार्थ स्वरूप जान लेता है; तथा अपीति यानी जगत्का कारणस्वरूप हो जाता है। यहाँ जो अवान्तर फल बतलाये गये हैं वे प्रधान साधनकी स्तुतिके लिये हैं॥ ११॥



मात्राओंकी विश्वादिरूपता

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक भी हैं—

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम्।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च॥ १९॥

जिस समय विश्वका अत्व—अकारमात्रत्व बतलाना इष्ट हो, अर्थात् वह अकारमात्रारूप है ऐसा जाना जाय तो उनके प्राथमिकत्वकी समानता स्पष्ट ही है तथा उनकी व्याप्तिरूप समानता भी स्फुट ही है॥ १९॥

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदादित्वसामान्य-मुक्तन्यायेनोत्कटमुद्भूतं दृश्यत इत्यर्थः। अत्वविवक्षायामित्यस्य

जिस समय विश्वका अत्व यानी अकारमात्रत्व कहना इष्ट होता है उस समय पूर्वोक्त न्यायसे उनके प्राथमिकत्वकी समानता उत्कट अर्थात् उद्भूत (प्रकटरूपसे) दिखायी देती है।

व्याख्यानं मात्रासम्प्रतिपत्ताविति विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा सम्प्रतिपद्यत इत्यर्थः। आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते च शब्दात्॥ १९॥

'मात्रासम्प्रतिपत्तौ'—यह 'अत्वविवक्षायाम्' इस पदकी ही व्याख्या है। तात्पर्य यह है कि जिस समय विश्वके अकारमात्रत्वका ज्ञान होता है उस समय उनकी व्याप्तिकी समानता तो स्पष्ट ही है। यहाँ 'च' शब्दसे 'उत्कटम्' इस पदकी अनुवृत्ति की जाती है॥ १९॥



तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम्।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम्॥ २०॥

तैजसको उकाररूप जाननेपर अर्थात् तैजस उकारमात्रारूप है ऐसा जाननेपर उनका उत्कर्ष स्पष्ट दिखायी देता है। तथा उनका उभयत्व भी स्पष्ट ही है॥ २०॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः। उभयत्वं च स्फुटमेवेति। पूर्ववत्सर्वम्॥ २०॥

तैजसके उत्व-विज्ञानमें अर्थात् उसका उकाररूपसे प्रतिपादन करनेमें उसका उत्कर्ष तो स्पष्ट ही दिखलायी देता है। इसी प्रकार उभयत्व भी स्पष्ट ही है। शेष सब पूर्ववत् है॥ २०॥



मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम्।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च॥ २१॥

प्राज्ञकी मकाररूपतामें अर्थात् प्राज्ञ मकारमात्रारूप है—ऐसा जाननेमें उनकी मान करनेकी समानता स्पष्ट है। इसी प्रकार उनमें लयस्थान होनेकी समानता भी स्पष्ट ही है॥ २१॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः॥ २१॥

प्राज्ञके मकाररूप होनेमें मान और लयरूप समानता स्पष्ट हैं— यह इसका तात्पर्य है॥ २१॥



ओङ्कारोपासकका प्रभाव

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः॥ २२॥

जो पुरुष तीनों स्थानोंमें [बतलायी गयी] तुल्यता अथवा समानताको निश्चयपूर्वक जानता है वह महामुनि समस्त प्राणियोंका पूजनीय और वन्दनीय होता है॥ २२॥

यथोक्तस्थानत्रये यस्तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्त्येवमेवैतदिति निश्चितो यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति॥ २२॥

उपर्युक्त तीनों स्थानोंमें तुल्यरूपसे बतलायी गयी समानताको जो 'यह इसी प्रकार है' ऐसा निश्चयपूर्वक जानता है वह ब्रह्मवेत्ता लोकमें पूजनीय एवं वन्दनीय होता है॥ २२॥



ओङ्कारकी व्यस्तोपासनाके फल

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोङ्कारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तम्—

पूर्वोक्त समानताओंसे आत्माके पादोंका मात्राओंके साथ एकत्व करके उपर्युक्त ओङ्कारको जानते हुए जो उसका ध्यान करता है उसे—

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम्।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः॥ २३॥

अकार विश्वको प्राप्त करा देता है तथा उकार तैजसको और मकार प्राज्ञको; किन्तु अमात्रमें किसीकी गति नहीं है॥ २३॥

अकारो नयते विश्वं प्रापयति। अकारालम्बनोङ्कारं विद्वान्वैश्वानरो भवतीत्यर्थः। तथोकारस्तैजसम्। मकारश्चापि पुनः प्राज्ञम्। च शब्दान्नयत इत्यनुवर्तते। क्षीणे तु मकारे बीजभावक्षयादमात्र ओङ्कारे गतिर्न विद्यते क्वचिदित्यर्थः॥ २३॥

अकार विश्वको प्राप्त करा देता है; अर्थात् अकारके आश्रित ओङ्कारको जाननेवाला पुरुष वैश्वानर होता है। इसी प्रकार उकार तैजसको और मकार पुनः प्राज्ञको प्राप्त करा देता है। 'च' शब्दसे 'नयते' (प्राप्त करा देता है) इस क्रियाकी अनुवृत्ति होती है। तथा मकारका क्षय होनेपर बीजभावका क्षय हो जानेसे मात्राहीन ओङ्कारमें कोई गति नहीं होती—यह इसका तात्पर्य है॥ २३॥

अमात्र और आत्माका तादात्म्य

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद॥ १२॥

मात्रारहित ओङ्कार तुरीय आत्मा ही है। वह अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओङ्कार आत्मा ही है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह स्वतः अपने आत्मामें ही प्रवेश कर जाता है॥ १२॥

अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओङ्कारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वादव्यवहार्यः। प्रपञ्चोपशमः

अमात्र—जिसकी मात्रा नहीं है वह अमात्र ओङ्कार चौथा अर्थात् तुरीय केवल आत्मा ही है। अभिधानरूप वाणी और अभिधेयरूप मनका क्षय हो जानेके कारण वह अव्यवहार्य है। तथा वह प्रपञ्चकी निषेधावधि, मङ्गलमय और अद्वैतस्वरूप

शिवोऽद्वैतः संवृत्त एवं यथोक्त-विज्ञानवता प्रयुक्त ओङ्कार-स्त्रिमात्रस्त्रिपाद आत्मैव। संविशत्यात्मना स्वेनैव स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद। परमार्थदर्शी ब्रह्मवित् तृतीयं बीजभावं दग्ध्वात्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात्।

है। इस प्रकार पूर्वोक्त विज्ञानवान् उपासकद्वारा प्रयोग किया हुआ तीन मात्रावाला ओङ्कार तीन पादवाला आत्मा ही है। जो इस प्रकार जानता है [अर्थात् इस प्रकार उसकी उपासना करता है] वह स्वतः ही अपने पारमार्थिक आत्मामें प्रवेश करता है। परमार्थदर्शी ब्रह्मवेत्ता तीसरे बीजभावको भी दग्ध करके आत्मामें प्रवेश करता है; इसलिये उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि तुरीय आत्मा अबीजात्मक है।

न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धि-संस्कारात्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्था-स्यति। मन्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्ग-गामिनां संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओङ्कारो ब्रह्म-प्रतिपत्तय आलम्बनी भवति तथा च वक्ष्यति-''आश्रमास्त्रिविधाः'' (माण्डू० का० ३। १६) इत्यादि॥ १२॥

रज्जु और सर्पका विवेक हो जानेपर रज्जुमें लीन हुआ सर्प जिन्हें उसका विवेक हो गया है उन पुरुषोंको बुद्धिके संस्कारवश पुनः प्रतीत नहीं हो सकता। किन्तु जो मन्द और मध्यम बुद्धिवाले, साधकभावको प्राप्त, सन्मार्गगामी संन्यासी पूर्वोक्त मात्रा और पादोंके निश्चित सामान्यभावको जाननेवाले हैं उनके लिये तो विधिवत् उपासना किया हुआ ओङ्कार ब्रह्मप्राप्तिके लिये आश्रयस्वरूप होता है। यही बात ''तीन प्रकारके आश्रम हैं'' इत्यादि वाक्योंसे कहेंगे॥ १२॥



समस्त और व्यस्त ओङ्कारोपासना

पूर्ववत्—

पहलेके समान—

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक भी हैं—

ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ २४॥

ओङ्कारको एक-एक पाद करके जाने; पाद ही मात्राएँ हैं—इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार ओङ्कारको पादक्रमसे जानकर कुछ भी चिन्तन न करे॥ २४॥

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोङ्कारं पादशो विद्यादित्यर्थः। एवमोङ्कारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किंचित् प्रयोजनं चिन्तयेत्कृतार्थत्वादित्यर्थः॥ २४॥

पूर्वोक्त समानताओंके कारण पाद ही मात्राएँ हैं और मात्राएँ ही पाद हैं। अतः तात्पर्य यह है कि ओङ्कारको पादक्रमसे जाने। इस प्रकार ओङ्कारका ज्ञान हो जानेपर कृतार्थ हो जानेके कारण किसी भी दृष्टार्थ (ऐहिक) अथवा अदृष्टार्थ (पारलौकिक) प्रयोजनका चिन्तन न करे—यह इसका अभिप्राय है॥ २४॥



युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥ २५॥

चित्तको ओङ्कारमें समाहित करे; ओङ्कार निर्भय ब्रह्मपद है। ओङ्कारमें नित्य समाहित रहनेवाले पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता॥ २५॥

युञ्जीत समादध्याद्यथा व्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो मनः। यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्। न हि तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित्

जिसकी पहले व्याख्या की जा चुकी है उस परमार्थस्वरूप ओङ्कारमें चित्तको युक्त—समाहित करे, क्योंकि ओङ्कार ही निर्भय ब्रह्म है। उसमें नित्य समाहित रहनेवाले पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता, जैसा कि

"विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २। ९) इति श्रुतेः ॥ २५ ॥

"विद्वान् कहीं भी भयको प्राप्त नहीं होता" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ २५ ॥



प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥ २६ ॥

ओङ्कार ही परब्रह्म है और ओङ्कार ही अपरब्रह्म माना गया है। वह ओङ्कार अपूर्व (अकारण), अन्तर्बाह्यशून्य, अकार्य तथा अव्यय है॥ २६॥

परापरे ब्रह्मणी प्रणवः। परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवात्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः। नास्यान्तरं भिन्न-जातीयं किञ्चिद्विद्यत इत्यनन्तरः। तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्य-बाह्यः। अपरं कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः। स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघन इत्यर्थः॥ २६॥

पर और अपर ब्रह्म प्रणव हैं। वस्तुतः मात्रारूप पादोंके क्षीण होनेपर पर आत्मा ही ब्रह्म है, इसलिये इसका कोई पूर्व यानी कारण न होनेसे यह अपूर्व है। इसका कोई अन्तर—भिन्नजातीय भी नहीं है, इसलिये यह अनन्तर है तथा इससे बाह्य भी कोई और नहीं है, इसलिये यह अबाह्य है और इसका कोई अपर—कार्य भी नहीं है इसलिये यह अनपर है। तात्पर्य यह है कि यह बाहर-भीतरसे अजन्मा तथा सैन्धवघनके समान प्रज्ञानघन ही है॥ २६॥



सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्॥ २७॥

प्रणव ही सबका आदि, मध्य और अन्त है। प्रणवको इस प्रकार जाननेके अनन्तर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है॥ २७॥

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थिति-प्रलयाः सर्वस्यैव। मायाहस्ति-रज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवद् उत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः। एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः॥ २७॥

सबका आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रणव ही है। जिस प्रकार कि मायामय हाथी, रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्प, मृगतृष्णा और स्वप्नादिके समान उत्पन्न होनेवाले आकाशादिरूप प्रपञ्चके कारण मायावी आदि हैं उसी प्रकार मायावी आदिस्थानीय उस प्रणवरूप आत्माको जानकर विद्वान् तत्काल ही तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ २७॥



प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥ २८॥

प्रणवको ही सबके हृदयमें स्थित ईश्वर जाने। इस प्रकार सर्वव्यापी ओङ्कारको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता॥ २८॥

सर्वप्राणिजातस्य स्मृति-प्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योम-वदोङ्कारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान्मत्वा न शोचति शोकनिमित्तानुपपत्तेः। "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७। १। ३) इत्यादि श्रुतिभ्यः॥ २८॥

प्रणवको ही समस्त प्राणिसमुदायके स्मृतिप्रत्ययके आश्रयभूत हृदयमें स्थित ईश्वर समझे। बुद्धिमान् पुरुष आकाशके समान सर्वव्यापी ओङ्कारको असंसारी आत्मा [—शुद्ध आत्मतत्त्व] जानकर, शोकके कारणका अभाव हो जानेसे शोक नहीं करता; जैसा कि "आत्मवेत्ता शोकको पार कर जाता है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है॥ २८॥



ओङ्कारार्थज्ञ ही मुनि है

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥ २९॥

जिसने मात्राहीन, अनन्त मात्रावाले, द्वैतके उपशमस्थान और मङ्गलमय ओङ्कारको जाना है वही मुनि है; और कोई पुरुष नहीं॥ २९॥

अमात्रस्तुरीय ओङ्कारः। मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः सा अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः। नैतावत्त्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यत इत्यर्थः। सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः। ओङ्कारो यथा व्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः। नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः॥ २९॥

अमात्र तुरीय ओङ्कार है। जिससे मान किया जाय उसे 'मात्रा' अर्थात् 'परिच्छित्ति' कहते हैं; वह मात्रा जिसकी अनन्त हो उसे 'अनन्तमात्र' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इसकी इयत्ताका परिच्छेद नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण द्वैतका उपशमस्थान होनेके कारण ही वह शिव (मङ्गलमय) है। इस प्रकार व्याख्या किया हुआ ओङ्कार जिसने जाना है वही परमार्थतत्त्वका मनन करनेवाला होनेसे 'मुनि' है; दूसरा पुरुष शास्त्रज्ञ होनेपर भी मुनि नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ २९॥



इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शङ्करभगवतः कृतावागमशास्त्रविवरणे गौडपादीयकारिकासहितमाण्डूक्योपनिषद्भाष्ये प्रथममागमप्रकरणम्॥ १॥

ॐ तत्सत्



वैतथ्यप्रकरण

प्रकरणस्य प्रयोजनम्

ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्, ''एकमेवाद्वितीयम्'' (छा० उ० ६ । २ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । आगममात्रं तत् । तत्रोपपत्त्यापि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते—

''एकमेवाद्वितीयम्'' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार (आगम-प्रकरणकी १८वीं कारिकामें) यह कहा गया है कि ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता। वह केवल आगम (शास्त्रवचन) मात्र था। किन्तु द्वैतका मिथ्यात्व युक्तिसे भी निश्चय किया जा सकता है, इसीलिये इस दूसरे प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—

स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका मिथ्यात्व

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥ १ ॥

[स्वप्नावस्थामें] सब पदार्थ शरीरके भीतर स्थित होते हैं; अतः स्थानके सङ्कोचके कारण मनीषिगण स्वप्नमें सब पदार्थोंका मिथ्यात्व प्रतिपादन करते हैं॥ १ ॥

वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वमित्यर्थः । कस्य? सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां भावानां पदार्थानां स्वप्न उपलभ्यमानानाम्, आहुः कथयन्ति, मनीषिणः प्रमाणकुशलाः । वैतथ्ये हेतुमाह—

वितथ-(मिथ्या-) के भावका नाम 'वैतथ्य' अर्थात् असत्यत्व है। किसका वैतथ्य? स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक पदार्थोंका मनीषिगण अर्थात् प्रमाणकुशल पुरुष वैतथ्य बतलाते हैं। उनके मिथ्यात्वमें हेतु बतलाते हैं—

अन्तःस्थानात्, अन्तः शरीरस्य मध्ये स्थानं येषाम्। तत्र हि भावा उपलभ्यन्ते पर्वतहस्त्यादयो न बहिः शरीरात्। तस्मात्ते वितथा भवितुमर्हन्ति। नन्वपवरकाद्यन्तरुपलभ्यमानैर्घटादिभिरनैकान्तिको हेतुरित्याशङ्क्याह—संवृतत्वेन हेतुनेति, अन्तः संवृतस्थानादित्यर्थः। न ह्यन्तः संवृते देहान्तर्नाडीषु पर्वतहस्त्यादीनां सम्भवोऽस्ति; न हि देहे पर्वतोऽस्ति॥ १॥

अन्तः संवृत-स्थानात्

अन्तःस्थ होनेके कारण; अन्तर अर्थात् शरीरके मध्यमें स्थान है जिनका [ऐसे होनेके कारण]; क्योंकि वहीं पर्वत एवं हस्ती आदि समस्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं, शरीरसे बाहर उनकी उपलब्धि नहीं होती; इसलिये वे मिथ्या होने चाहिये। किन्तु [यदि शरीरके भीतर उपलब्ध होनेके कारण ही स्वप्रदृष्ट पदार्थ मिथ्या हैं तो] गृह आदिके भीतर दिखायी देनेवाले घट आदिमें तो यह हेतु व्यभिचरित हो जायगा [क्योंकि वहाँ जो उनकी प्रतीति है वह तो सत्य ही है]—ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'स्थानके सङ्कोचके कारणसे।' तात्पर्य यह कि शरीरके भीतर संकुचित स्थान होनेसे [उनका मिथ्यात्व कहा जाता है]। देहके अन्तर्वर्ती संकुचित नाडीजालमें पर्वत या हाथी आदिका होना सम्भव नहीं है। देहके भीतर पर्वत नहीं हो सकता॥ १॥



स्वप्रदृश्यानां भावानामन्तः संवृतस्थानमित्येतदसिद्धम्, यस्मात् प्राच्येषु सुप्त उदक्षु स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यत इत्येतदाशङ्क्याह—

स्वप्नमें दिखलायी देनेवाले पदार्थोंका शरीरके भीतर संकुचित स्थान है—यह बात सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि पूर्व दिशामें सोया हुआ पुरुष उत्तर दिशामें स्वप्न देखता-सा देखा जाता है [अतः वह शरीरसे बाहर वहाँ जाकर उन्हें देखता होगा]—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते॥ २॥

समयकी अदीर्घता होनेके कारण वह देहसे बाहर जाकर उन्हें नहीं देखता तथा जागनेपर भी कोई पुरुष उस देशमें विद्यमान नहीं रहता। [इससे भी उसका स्वप्नदृष्ट देशमें न जाना ही सिद्ध होता है]॥ २॥

न देहाद्बहिर्देशान्तरं गत्वा स्वप्नान्पश्यति। यस्मात् दीर्घ- कालाभावाद् **सुप्तमात्र एव देह-** मिथ्यात्वम् **देशाद्योजनशतान्तरिते मासमात्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यते। न च तद्देशप्राप्तेरागमनस्य च दीर्घः कालोऽस्ति। अतोऽदीर्घत्वाच्च कालस्य न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति।**

वह देहसे बाहर देशान्तरमें जाकर स्वप्न नहीं देखता, क्योंकि वह सोया हुआ ही देहके स्थानसे एक मासमें पहुँचने योग्य सौ योजनकी दूरीपर स्वप्न देखता-सा देखा जाता है। [उस समय] उस देशमें पहुँचने और वहाँसे लौटने योग्य दीर्घकाल है ही नहीं। अतः कालकी अदीर्घताके कारण वह स्वप्नद्रष्टा किसी देशान्तरमें नहीं जाता।

किं च प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः स्वप्नदृक्स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते। यदि च स्वप्ने देशान्तरं गच्छेद्यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्तत्रैव प्रतिबुध्येत। न चैतदस्ति। रात्रौ सुप्तोऽहनीव भावान्पश्यति; बहुभिः संगतो भवति, यैश्च संगतस्तैर्गृह्येत। न च गृह्यते; गृहीतश्चेत्त्वामद्य तत्रोपलब्धवन्तो

यही नहीं, जागनेपर भी कोई स्वप्नद्रष्टा स्वप्न देखनेके स्थानमें नहीं रहता। यदि वह स्वप्नके समय किसी देशान्तरमें जाता तो जिस देशमें स्वप्न देखता उसीमें जागता। किन्तु ऐसी बात नहीं होती। वह रात्रिमें सोया हुआ मानो दिनमें पदार्थोंको देखता है और बहुतोंसे मिलता है; अतः जिनसे उसका मेल होता है उनके द्वारा वह गृहीत होना चाहिये था। परन्तु गृहीत होता नहीं; यदि गृहीत होता तो 'हमने तुझे वहाँ पाया था'

वयमिति ब्रूयुः। न चैतदस्ति, तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने॥ २॥

ऐसा कहते। परन्तु ऐसी बात है नहीं; अतः स्वप्नमें वह किसी देशान्तरको नहीं जाता॥ २॥



इतश्च स्वप्नदृश्या भावा वितथा यतः—

स्वप्नमें दिखायी देनेवाले पदार्थ इसलिये भी मिथ्या हैं, क्योंकि—

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम्॥ ३॥

श्रुतिमें भी [स्वप्नदृष्ट] रथादिका अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया है। अतः [उपर्युक्त युक्तिसे] सिद्ध हुए मिथ्यात्वको ही स्वप्नमें स्पष्ट बतलाते हैं॥ ३॥

रथाद्यभावश्रुते- मिथ्यात्वम्

अभावश्चैव रथादीनां स्वप्नदृश्यानां श्रूयते न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ "न तत्र रथाः" (बृ० उ० ४। ३। १०) इत्यत्र। देहान्तःस्थानसंवृतत्वादिहेतुना प्राप्तं वैतथ्यं तदनुवादिन्या श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः॥ ३॥

"उस अवस्थामें रथ नहीं हैं" इत्यादि श्रुतिमें भी स्वप्नदृष्ट रथादिका अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया है। अतः अन्तःस्थान तथा स्थानके सङ्कोच आदि हेतुओंसे सिद्ध हुआ मिथ्यात्व, उसका अनुवाद करनेवाली तथा स्वप्नमें आत्माका स्वयंप्रकाशत्व प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिद्वारा ब्रह्मवेत्ता स्पष्ट बतलाते हैं॥ ३॥



जाग्रद्दृश्य पदार्थोंके मिथ्यात्वमें हेतु

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते॥ ४॥

इसीसे जाग्रत्-अवस्थामें भी पदार्थोंका मिथ्यात्व है, क्योंकि जिस प्रकार वे वहाँ स्वप्नावस्थामें [मिथ्या] होते हैं उसी प्रकार जाग्रत्‌में भी होते हैं। केवल शरीरके भीतर स्थित होने और स्थानके संकुचित होनेमें ही स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका भेद है॥ ४॥

स्वप्नपदार्थवद्-दृश्यत्वेन मिथ्यात्वम्

जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्। अन्तःस्थानात्संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः। दृश्यत्वमसत्यत्वं चाविशिष्टमुभयत्र॥ ४॥

जाग्रत्-अवस्थामें देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं—यह प्रतिज्ञा है। दृश्य होनेके कारण—यह उसका हेतु है। स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान—यह दृष्टान्त है। जिस प्रकार वहाँ स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंका मिथ्यात्व है उसी प्रकार जाग्रत्‌में भी उनका दृश्यत्व समानरूपसे है—यह हेतूपनय¹ है। अतः जागृतिमें भी उनका मिथ्यात्व माना गया है—यह निगमन है। अन्तःस्थ होने और स्थानका संकोच होनेमें स्वप्नदृष्ट भावोंका जाग्रद्दृष्ट भावोंसे भेद है। दृश्यत्व और असत्यत्व तो दोनों ही अवस्थाओंमें समान हैं॥ ४॥



स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना॥ ५॥

इस प्रकार प्रसिद्ध हेतुसे ही पदार्थोंमें समानता होनेके कारण विवेकी पुरुषोंने स्वप्न और जागरित-अवस्थाओंको एक ही बतलाया है॥ ५॥

१-व्याप्तिविशिष्ट हेतु पक्षमें है—ऐसा प्रतिपादन करना 'हेतूपनय' कहलाता है।

प्रसिद्धेनैव भेदानां ग्राह्यग्राहकत्वेन हेतुना समत्वेन स्वप्नजागरितस्थानयोरेकत्वमाहुर्विवेकिन इति पूर्वप्रमाणसिद्धस्यैव फलम्॥ ५॥

ग्राह्यग्राहकत्वात्

पदार्थोंके ग्राह्यग्राहकत्वरूप प्रसिद्ध हेतुसे समानता होनेके कारण ही विवेकी पुरुषोंने स्वप्न और जागरित-अवस्थाओंका एकत्व प्रतिपादन किया है—इस प्रकार यह पूर्व प्रमाणसे सिद्ध हुए हेतुका ही फल है॥ ५॥

इतश्च वैतथ्यं जाग्रद्दृश्यानां भेदानामाद्यन्तयोरभावात्।

जाग्रत्-अवस्थामें दिखलायी देनेवाले पदार्थोंका मिथ्यात्व इसलिये भी है, क्योंकि आदि और अन्तमें उनका अभाव है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥ ६॥

जो आदि और अन्तमें नहीं है [अर्थात् आदि और अन्तमें असद्रूप है] वह वर्तमानमें भी वैसा ही है। ये पदार्थसमूह असत्के समान होकर भी सत्-जैसे दिखायी देते हैं॥ ६॥

यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके तथेमे जाग्रद्दृश्या भेदाः। आद्यन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव तथाप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः॥ ६॥

आदावन्ते चाभावात्

जो मृगतृष्णादि वस्तु आदि और अन्तमें नहीं है वह मध्यमें भी नहीं होती—यह बात लोकमें निश्चित ही है। इसी प्रकार ये जाग्रत्-अवस्थामें दिखलायी देनेवाले भिन्न-भिन्न पदार्थ भी आदि और अन्तमें न होनेसे मृगतृष्णा आदि असद्वस्तुओंके समान होनेके कारण असत् ही हैं; तथापि मूढ अनात्मज्ञ पुरुषोंद्वारा वे सद्रूप समझे जाते हैं॥ ६॥

स्वप्नदृश्यवज्जागरितदृश्याना-मप्यसत्त्वमिति यदुक्तं तदयुक्तम्। यस्माज्जाग्रद्दृश्या अन्नपान-वाहनादयः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिं कुर्वन्तो गमनागमनादिकार्यं च सप्रयोजना दृष्टाः। न तु स्वप्नदृश्यानां तदस्ति। तस्मात्स्वप्न-दृश्यवज्जाग्रद्दृश्यानामसत्त्वं मनोरथमात्रमिति।

तन्न। कस्मात्? यस्मात्—

शङ्का—स्वप्नदृश्योंके समान जागरित-अवस्थाके दृश्योंका भी जो असत्यत्व बतलाया गया है वह ठीक नहीं क्योंकि जाग्रद्दृश्य अन्न, पान और वाहन आदि पदार्थ भूख-प्यासकी निवृत्ति तथा गमनागमन आदि कार्योंके करनेके कारण प्रयोजनवाले देखे गये हैं। किन्तु स्वप्नदृश्योंके विषयमें ऐसी बात नहीं है। अतः स्वप्नदृश्योंके समान जाग्रद्दृश्योंकी असत्यता केवल मनोरथमात्र है।

समाधान—ऐसी बात नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि—

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः॥ ७॥

स्वप्नमें उन-(जाग्रत्पदार्थों-) की सप्रयोजनतामें विपरीतता आ जाती है। अतः आदि-अन्तयुक्त होनेके कारण वे निश्चय मिथ्या ही माने गये हैं॥ ७॥

सप्रयोजनता दृष्टा यान्नपाना-दीनां स्वप्ने विप्रतिपद्यते। जागरिते हि भुक्त्वा पीत्वा च तृप्तो विनिवर्तिततृट्सुप्तमात्र एव क्षुत्पिपासाद्यार्तमहोरात्रोषित-मभुक्तवन्तमात्मानं मन्यते। यथा स्वप्ने भुक्त्वा पीत्वा चातृप्तोत्थित-स्तथा। तस्माज्जाग्रद्दृश्यानां स्वप्ने विप्रतिपत्तिर्दृष्टा। अतो

[जागरित-अवस्थामें] जो अन्न-पानादिकी सप्रयोजनता देखी गयी है वह स्वप्नमें नहीं रहती। जागरित-अवस्थामें खा-पीकर तृप्त हुआ पुरुष तृषारहित होकर सोनेपर भी [स्वप्नमें] अपनेको क्षुधा-पिपासा आदिसे आर्त, दिन-रात उपवास किया हुआ और बिना भोजन किया हुआ मानता है; जिस प्रकार कि स्वप्नमें, खा-पीकर जागा हुआ पुरुष अपनेको अतृप्त अनुभव करता है। अतः स्वप्नावस्थामें

मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाशङ्कनीयमिति । तस्मादाद्यन्तवत्त्वमुभयत्र समानमिति मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ७ ॥

जाग्रद्दृश्योंकी विपरीतता देखी जाती है। इसलिये स्वप्नदृश्योंके समान उनकी असत्यताको भी हम शङ्का न करनेयोग्य मानते हैं। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओंमें आदि-अन्तवत्त्व समान है; अतः वे निश्चय मिथ्या ही माने गये हैं॥ ७॥

स्वप्नजाग्रद्भेदयोः समत्वाज्जाग्रद्भेदानामसत्त्वमिति यदुक्तं तदसत्, कस्मात्? दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात्? कथम्। न हि जाग्रद्दृष्टा एवैते भेदाः स्वप्ने दृश्यन्ते। किं तर्हि?

स्वप्न और जाग्रत्पदार्थोंके समान होनेसे जाग्रत्पदार्थोंकी जो असत्यता बतलायी गयी है वह ठीक नहीं है। क्यों? क्योंकि यह दृष्टान्त सिद्ध नहीं हो सकता? कैसे सिद्ध नहीं हो सकता? क्योंकि जो पदार्थ जाग्रत्-अवस्थामें देखे जाते हैं वे ही स्वप्नमें नहीं देखे जाते। तो उस समय और क्या देखा जाता है?

अपूर्वं स्वप्ने पश्यति; चतुर्दन्तगजमारूढमष्टभुजमात्मानं मन्यते। अन्यदप्येवंप्रकारमपूर्वं पश्यति स्वप्ने। तन्नान्येनासता सममिति सदेव। अतो दृष्टान्तोऽसिद्धः। तस्मात्स्वप्नवज्जागरितस्यासत्त्वमित्ययुक्तम्।

स्वप्नमें तो यह अपूर्व वस्तुएँ देखता है। अपनेको चार दाँतोंवाले हाथीपर चढ़ा हुआ तथा आठ भुजाओंवाला मानता है। इसी प्रकार स्वप्नमें और भी अपूर्व वस्तुएँ देखा करता है। वे किसी अन्य असत् वस्तुके समान नहीं होतीं; इसलिये वे सत् ही हैं। अतः यह दृष्टान्त सिद्ध नहीं हो सकता। अतः स्वप्नके समान जागरितकी भी असत्यता है—यह कथन ठीक नहीं।

तन्न; स्वप्ने दृष्टमपूर्वं यन्मन्यसे न तत्स्वतः सिद्धम्। किं तर्हि?

ऐसी बात नहीं है। स्वप्नमें देखी हुई जिन वस्तुओंको अपूर्व समझता है वे स्वतः सिद्ध नहीं हैं। तो कैसी हैं?

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम्।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः॥ ८॥

जिस प्रकार [इन्द्रादि] स्वर्गनिवासियोंकी [सहस्रनेत्रत्वादि] अलौकिक अवस्थाएँ सुनी जाती हैं उसी प्रकार यह (स्वप्र) भी स्थानी-(स्वप्रद्रष्टा आत्मा-) का अपूर्व धर्म है। उन स्वाप्र पदार्थोंको यह इसी प्रकार जाकर देखता है जैसे कि इस लोकमें [किसी मार्गविशेषके सम्बन्धमें] सुशिक्षित पुरुष [उस मार्गसे जाकर अपने अभीष्ट लक्ष्यपर पहुँचकर उसे देखता है]॥ ८॥

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि स्थानिनो द्रष्टुरेव हि स्वप्रस्थानवतो धर्मः। यथा स्वर्गनिवासिनामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादि तथा स्वप्रदृशोऽपूर्वोऽयं धर्मः। न स्वतः सिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत्। तानेवंप्रकारानपूर्वान्स्वचित्तविकल्पानयं स्थानी स्वप्रदृक्स्वप्रस्थानं गत्वा प्रेक्षते। यथैवेह लोके सुशिक्षितो देशान्तरमार्गस्तेन मार्गेण देशान्तरं गत्वा तान्पदार्थान्पश्यति तद्वत्। तस्माद्यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादीनामसत्त्वं तथा स्वप्रदृश्यानामपूर्वाणां स्थानिधर्मत्वमेवेत्यसत्त्वमतो न स्वप्रदृष्टान्तस्यासिद्धत्वम्॥ ८॥

वे स्थानीका अपूर्व धर्म ही हैं; स्थानी अर्थात् स्वप्रस्थानवाले द्रष्टाका ही धर्म हैं। जैसे कि स्वर्गनिवासी इन्द्रादिके सहस्राक्षत्वादि धर्म हैं उसी प्रकार स्वप्रद्रष्टाका यह अपूर्व धर्म है। द्रष्टाके स्वरूपके समान यह स्वतःसिद्ध नहीं है। इस प्रकारके अपने चित्तद्वारा कल्पना किये हुए उन धर्मोंको यह जो स्वप्र देखनेवाला स्थानी है स्वप्रस्थानमें जाकर देखा करता है; जिस प्रकार इस लोकमें देशान्तरके मार्गके विषयमें सुशिक्षित पुरुष उस मार्गसे देशान्तरमें जाकर वहाँके पदार्थोंको देखता है उसी प्रकार [यह भी देखता है]। अतः जिस प्रकार स्थानीके धर्म रज्जु-सर्प और मृगतृष्णा आदिकी असत्यता है उसी प्रकार स्वप्रमें देखे जानेवाले अपूर्व पदार्थोंका भी स्थानिधर्मत्व ही है, अतः वे भी असत् हैं। इसलिये स्वप्रदृष्टान्तकी असिद्धता नहीं है॥ ८॥



स्वप्नमें मनःकल्पित और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

अपूर्वत्वाशङ्का निराकृता स्वप्नदृष्टान्तस्य पुनः स्वप्नतुल्यतां जाग्रद्भेदानां प्रपञ्चयन्नाह—

स्वप्नदृष्टान्तके अपूर्वत्वकी आशङ्काका निराकरण कर दिया। अब पुनः जाग्रत्पदार्थोंकी स्वप्नतुल्यताका विस्तृतरूपसे प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः॥ ९॥

स्वप्नावस्थामें भी चित्तके भीतर कल्पना किया हुआ पदार्थ असत् और चित्तसे बाहर [इन्द्रियोंद्वारा] ग्रहण किया हुआ पदार्थ सत् जान पड़ता है; किन्तु इन दोनोंका ही मिथ्यात्व देखा गया है॥ ९॥

स्वप्नवृत्तावपि स्वप्नस्थानेऽपि अन्तश्चेतसा मनोरथसङ्कल्पितमसत्। सङ्कल्पानन्तरसमकालमेवादर्शनात्तत्रैव स्वप्ने बहिश्चेतसा गृहीतं चक्षुरादिद्वारेणोपलब्धं घटादि सत्। इत्येवमसत्यमिति निश्चितेऽपि सदसद्विभागो दृष्टः। उभयोरप्यन्तर्बहिश्चेतःकल्पितयोर्वैतथ्यमेव दृष्टम्॥ ९॥

स्वप्नकी वृत्ति अर्थात् स्वप्नस्थानमें भी चित्तके भीतर मनोरथसे सङ्कल्प की हुई वस्तु असत् होती है; क्योंकि वह सङ्कल्पके पश्चात् तत्क्षण ही दिखायी नहीं देती। तथा उस स्वप्नावस्थामें ही चित्तसे बाहर चक्षु आदिद्वारा ग्रहण किये हुए घट आदि सत् होते हैं। इस प्रकार स्वप्न असत्य है—ऐसा निश्चय हो जानेपर भी उसमें सत्-असत्का विभाग देखा जाता है। किन्तु चित्तसे कल्पना किये हुए इन आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका मिथ्यात्व देखा गया है॥ ९॥



जाग्रत्में भी दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥ १० ॥

इसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी चित्तके भीतर कल्पना किया हुआ पदार्थ असत् तथा चित्तसे बाहर ग्रहण किया हुआ पदार्थ सत् समझा जाता है। परन्तु इन दोनोंहीका मिथ्यात्व मानना उचित है॥ १०॥

सदसतोर्वैतथ्यं युक्तम्, अन्तर्बहिश्चेतःकल्पितत्वाविशेषादिति व्याख्यातमन्यत्॥ १०॥

इन सत् और असत् पदार्थोंका मिथ्यात्व ठीक ही है, क्योंकि हृदयके भीतर या बाहर कल्पित होनेसे उनमें कोई विशेषता नहीं होती। शेष सबकी व्याख्या हो चुकी है॥ १०॥



इन मिथ्या पदार्थोंकी कल्पना करनेवाला कौन है?

चोदक आह—

[इसपर] पूर्वपक्षी कहता है—

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ॥ ११ ॥

यदि [जागरित और स्वप्न] दोनों ही स्थानोंके पदार्थोंका मिथ्यात्व है तो इन पदार्थोंको जानता कौन है और कौन इनकी कल्पना करनेवाला है?॥ ११॥

स्वप्नजाग्रत्स्थानयोर्भेदानां यदि वैतथ्यं क एतानन्तर्बहिश्चेतः-कल्पितान्बुध्यते। को वै तेषां विकल्पकः। स्मृतिज्ञानयोः क

यदि स्वप्न और जागरित-[दोनों ही स्थानों-]के पदार्थोंका मिथ्यात्व है तो चित्तके भीतर या बाहर कल्पना किये हुए इन पदार्थोंको जानता कौन है? और कौन उनकी कल्पना करनेवाला है? तात्पर्य यह है कि यदि निरात्मवाद अभीष्ट नहीं है तो [यह बताना चाहिये कि] उक्त स्मरण

आलम्बनमित्यभिप्रायः, न चेन्निरात्मवाद इष्टः ॥ ११ ॥

(स्वप्न) और ज्ञान-(जागरित-) का आलम्बन कौन है ? ॥ ११ ॥



इनकी कल्पना करनेवाला और इनका साक्षी आत्मा ही है

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ १२ ॥

स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी मायासे स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब भेदोंको जानता है—यही वेदान्तका निश्चय है ॥ १२ ॥

स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादीन् स्वयमेव च तान्बुध्यते भेदांस्तद्वदेवेत्येवं वेदान्तनिश्चयः। नान्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याश्रयः। न च निरास्पदे एव ज्ञानस्मृती वैनाशिकानामिवेत्यभिप्रायः। १२।

स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी मायासे रज्जुमें सर्पादिके समान अपनेमें आपहीको आगे बतलाये जानेवाले भेदरूपसे कल्पना करता है और स्वयं ही उन भेदोंको जानता है—इस प्रकार यही वेदान्तका निश्चय है। उसके सिवा स्मृति और ज्ञानका कोई और आश्रय नहीं है। तात्पर्य यह कि वैनाशिकों-(बौद्धों-) के कथनके समान ये ज्ञान और स्मृति निराधार नहीं हैं ॥ १२ ॥



पदार्थकल्पनाकी विधि

सङ्कल्पयन्केन प्रकारेण कल्पयतीत्युच्यते—

वह संकल्प करते हुए किस प्रकार कल्पना करता है ? सो बतलाया जाता है—

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥ १३ ॥

प्रभु आत्मा अपने अन्तःकरणमें [वासनारूपसे] स्थित अन्य (लौकिक) भावोंको नानारूप करता है तथा बहिश्चित्त होकर पृथिवी आदि नियत और अनियत पदार्थोंकी भी इसी प्रकार कल्पना करता है। १३।

विकरोति नाना करोत्यपरान् लौकिकान् भावान् पदार्थान् शब्दादीनन्यांश्चान्तश्चित्ते वासनारूपेण व्यवस्थितानव्याकृतान् नियतांश्च पृथ्व्यादीननियतांश्च कल्पनाकालान्बहिश्चित्तः संस्तथान्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणानित्येवं कल्पयति प्रभुरीश्वर आत्मेत्यर्थः॥ १३॥

वह चित्तके भीतर वासनारूपसे स्थित अव्याकृत लौकिक भावों—शब्दादि पदार्थोंको तथा अन्य पृथिवी आदि नियत और कल्पनाकालमें ही उत्पन्न होनेवाले अनियत पदार्थोंको बहिश्चित्त होकर एवं मनोरथादिरूप पदार्थोंको अन्तश्चित्त होकर विकृत करता अर्थात् नाना करता है—इस प्रकार प्रभु—ईश्वर अर्थात् आत्मा कल्पना करता है॥ १३॥



आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्क्यते। यस्माच्चित्तपरिकल्पितैर्मनोरथादिलक्षणैश्चित्तपरिच्छेद्यैर्वैलक्षण्यं बाह्यानामन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति।

सा न युक्ताशङ्का।

स्वप्नके समान सब कुछ चित्तका ही कल्पना किया हुआ है—इस विषयमें यह शंका होती है—क्योंकि केवल चित्तपरिकल्पित और चित्तसे ही परिच्छेद्य मनोरथादिसे बाह्य पदार्थोंकी अन्योन्यपरिच्छेद्यत्वरूप विलक्षणता है [अतः स्वप्नके समान ये मिथ्या नहीं हो सकते]।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है, [क्योंकि—]

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः॥ १४॥

जो आन्तरिक पदार्थ केवल कल्पनाकालतक ही रहनेवाले हैं और जो बाह्य पदार्थ द्विकालिक [अर्थात् अन्योन्यपरिच्छेद्य] हैं वे सभी कल्पित हैं। उनकी विशेषताका [अर्थात् आन्तरिक पदार्थ असत्य हैं और बाह्य सत्य हैं—इस प्रकारकी भेदकल्पनाका] कोई दूसरा कारण नहीं है॥ १४॥

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः; नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषां ते चित्तकालाः। कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः। द्वयकालाश्च भेदकाला अन्योन्यपरिच्छेद्याः। यथा गोदोहनमास्ते; यावदास्ते तावद्गां दोग्धि यावद्गां दोग्धि तावदास्ते। तावानयमेतावान्स इति परस्परपरिच्छेद्यपरिच्छेदकत्वं बाह्यानां भेदानां ते द्वयकालाः। अन्तश्चित्तकाला बाह्याश्च द्वयकालाः कल्पिता एव ते सर्वे। न बाह्यो द्वयकालत्वविशेषः कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतुकः। अत्रापि हि स्वप्नदृष्टान्तो भवत्येव॥ १४॥

जो आन्तरिक हैं अर्थात् चित्तपरिच्छेद्य हैं वे चित्तकाल हैं; जिनका चित्तकालके सिवा और कोई काल परिच्छेदक न हो उन्हें चित्तकाल कहते हैं। अर्थात् वे केवल कल्पनाके समय ही उपलब्ध होते हैं। तथा बाह्य पदार्थ दो कालवाले—भेदकालिक यानी अन्योन्यपरिच्छेद्य हैं। जैसे गोदोहनपर्यन्त बैठता है; यानी जबतक बैठता है तबतक गौ दुहता है और जबतक गौ दुहता है तबतक बैठता है। उतने समयतक यह रहता है और इतने समयतक वह रहता है—इस प्रकार बाह्य पदार्थोंका परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदकत्व है; अतः वे दो कालवाले हैं। किन्तु आन्तरिक चित्तकालिक और बाह्य द्विकालिक—ये सब कल्पित ही हैं। बाह्य पदार्थोंकी जो द्विकालिकत्वरूप विशेषता है वह कल्पितत्वके सिवा किसी अन्य कारणसे नहीं है। इस विषयमें भी स्वप्नका दृष्टान्त* है ही॥ १४॥



*अर्थात् जाग्रत्‌के समान स्वप्नके भी चित्तपरिकल्पित पदार्थ कल्पनाकालिक और बाह्य पदार्थ द्विकालिक ही होते हैं; परन्तु वे होते दोनों ही मिथ्या हैं। इसी प्रकार जाग्रत्‌में भी समझो।

आन्तरिक और बाह्य पदार्थोंका भेद केवल इन्द्रियजनित है

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे॥ १५॥

जो आन्तरिक पदार्थ हैं वे अव्यक्त ही हैं और जो बाह्य हैं वे स्पष्ट प्रतीत होनेवाले हैं। किन्तु वे सब हैं कल्पित ही। उनकी विशेषता तो केवल इन्द्रियोंके ही भेदमें है॥ १५॥

यदप्यन्तरव्यक्तत्वं भावानां मनोवासनामात्राभिव्यक्तानां स्फुटत्वं वा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियान्तरे विशेषो नासौ भेदानामस्तित्वकृतः स्वप्नेऽपि तथा दर्शनात्। किं तर्हि? इन्द्रियान्तरकृत एव। अतः कल्पिता एव जाग्रद्भावा अपि स्वप्नभाववदिति सिद्धम्॥ १५॥

चित्तकी वासनामात्रसे अभिव्यक्त हुए पदार्थोंका जो अन्तःकरणमें अव्यक्तत्व (अस्फुटत्व) और बाह्य चक्षु आदि अन्य इन्द्रियोंमें जो उनका स्फुटत्व है वह विशेषता पदार्थोंकी सत्ताके कारण नहीं है, क्योंकि ऐसा ही स्वप्नमें भी देखा जाता है। तो फिर इसका क्या कारण है? यह इन्द्रियोंके भेदके ही कारण है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्नके पदार्थोंके समान जाग्रत्कालीन पदार्थ भी कल्पित ही हैं॥ १५॥



पदार्थकल्पनाकी मूल जीवकल्पना है

बाह्याध्यात्मिकानां भावानामितरेतरनिमित्तनैमित्तिकतया कल्पनायां किं मूलमित्युच्यते—

बाह्य और आन्तरिक पदार्थोंकी परस्पर निमित्त और नैमित्तिकरूपसे कल्पना होनेमें क्या कारण है? सो बतलाया जाता है—

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान्।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः॥ १६॥

[वह प्रभु] सबसे पहले जीवकी कल्पना करता है; फिर तरह-तरहके बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी कल्पना करता है। उस जीवका जैसा विज्ञान होता है वैसी ही स्मृति भी होती है॥ १६॥

जीवं हेतुफलात्मकम्; अहं करोमि मम सुखदुःखे इत्येवं-लक्षणम्; अनेवंलक्षण एव शुद्ध आत्मनि रज्जाविव सर्पं कल्पयते पूर्वम्। ततस्तादर्थ्येन क्रिया-कारकफलभेदेन प्राणादीन्नाना-विधान्भावान्बाह्यानाध्यात्मिकां-श्चैव कल्पते।

तत्र कल्पनायां को हेतु-रित्युच्यते। योऽसौ स्वयंकल्पितो जीवः सर्वकल्पनायामधिकृतः स यथाविद्यः, यादृशी विद्या विज्ञान-मस्येति यथाविद्यः; तथाविधैव स्मृतिस्तस्येति तथास्मृतिर्भवति स इति। अतो हेतुकल्पना-विज्ञानात्फलविज्ञानं ततो हेतुफल-स्मृतिस्ततस्तद्विज्ञानं तदर्थक्रिया-कारकतत्फलभेदविज्ञानानि ।

सबसे पहले 'मैं करता हूँ, मुझे सुख-दुःख हैं' इस प्रकारके हेतुफलात्मक जीवकी [वह प्रभु] इससे विपरीत लक्षणोंवाले शुद्ध आत्मामें रज्जुमें सर्पके समान कल्पना करता है। फिर उसीके लिये क्रिया, कारक और फलके भेदसे प्राण आदि नाना प्रकारके बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी कल्पना करता है।

उस कल्पनामें क्या हेतु है—इसपर कहा जाता है—यह जो स्वयं कल्पना किया हुआ जीव सब प्रकारकी कल्पनाका अधिकारी है, वह जैसी विद्यावाला होता है अर्थात् उसकी जैसी विद्या यानी विज्ञान होता है वैसी ही स्मृति भी होती है। अतः वह वैसी ही स्मृतिवाला होता है। इस प्रकार [अन्नभक्षणादि] हेतुकी कल्पनाके विज्ञानसे ही [तृप्ति आदि] फलका विज्ञान होता है; उससे [दूसरे दिन भी] उन हेतु और फलकी स्मृति होती है और उस स्मृतिसे उनका ज्ञान तथा उनके लिये होनेवाले [पाकादि] कर्म, [तण्डुलादि] कारक और उनके [तृप्ति आदि] फलभेदके

तेभ्यस्तत्स्मृतिस्तत्स्मृतेश्च पुनस्तद्विज्ञानानीत्येवं बाह्यानाध्यात्मिकांश्चेतरेतरनिमित्तनैमित्तिकभावेनानेकधा कल्पयते॥ १६॥

ज्ञान होते हैं। उनसे उनकी स्मृति होती है तथा उस स्मृतिसे फिर उन-[हेतु आदि-]के विज्ञान होते हैं। इस प्रकार यह जीव बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिकभावसे अनेक प्रकार कल्पना करता है॥ १६॥

जीवकल्पनाका हेतु अज्ञान है

तत्र जीवकल्पना सर्वकल्पनामूलमित्युक्तं सैव जीवकल्पना किंनिमित्तेति दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—

यहाँतक जीवकल्पना ही सब कल्पनाओंका मूल है—यह कहा गया; किन्तु वह जीव-कल्पना है किस निमित्तसे?—इस बातका दृष्टान्तसे प्रतिपादन करते हैं—

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥ १७॥

जिस प्रकार [अपने स्वरूपसे] निश्चय न की हुई रज्जु अन्धकारमें सर्प-धारा आदि भावोंसे कल्पना की जाती है उसी प्रकार आत्मामें भी तरह-तरहकी कल्पनाएँ हो रही हैं॥ १७॥

यथा लोके स्वेन रूपेणानिश्चितानवधारितैवमेवेति रज्जुर्मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा दण्ड इति वानेकधा विकल्पिता भवति पूर्वं स्वरूपानिश्चयनिमित्तम्। यदि हि पूर्वमेव रज्जुः स्वरूपेण निश्चिता

जिस प्रकार अपने स्वरूपसे अनिश्चित अर्थात् यह ऐसी ही है—इस प्रकार निर्धारण न की हुई रज्जु मन्द अन्धकारमें 'यह सर्प है?' 'जलकी धारा है?' अथवा 'दण्ड है?' इस प्रकार—पहलेसे स्वरूपका निश्चय न होनेके कारण—अनेक प्रकारसे कल्पना की जाती है; यदि रज्जु पहले ही अपने

स्यात्; न सर्पादिविकल्पोऽभविष्यद् यथा स्वहस्ताङ्गुल्यादिषु, एष दृष्टान्तः। तद्वद्धेतुफलादिसंसारधर्मानर्थ-विलक्षणतया स्वेन विशुद्धविज्ञप्ति-मात्रसत्ताद्वयरूपेणानिश्चितत्वा-ज्जीवप्राणाद्यनन्तभावभेदैरात्मा विकल्पित इत्येष सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः॥ १७॥

स्वरूपसे निश्चित हो तो उसमें सर्पादिका विकल्प नहीं हो सकता, जैसे कि अपने हाथकी अँगुली आदिमें [ऐसा कोई विकल्प नहीं होता]। यह एक दृष्टान्त है। इसी तरह हेतु-फलादि सांसारिक धर्मरूप अनर्थसे विलक्षण अपने विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र अद्वितीय सत्तास्वरूपसे निश्चित न होनेके कारण ही आत्मा जीव एवं प्राण आदि अनन्त विभिन्न भावोंसे विकल्पित हो रहा है—यही सम्पूर्ण उपनिषदोंका सिद्धान्त है॥ १७॥



अज्ञाननिवृत्ति ही आत्मज्ञान है

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥ १८॥

जिस प्रकार रज्जुका निश्चय हो जानेपर उसमें [सर्पादिका] विकल्प निवृत्त हो जाता है तथा 'यह रज्जु ही है' ऐसा अद्वैत निश्चय होता है उसी प्रकार आत्माका निश्चय है॥ १८॥

रज्जुरेवेति निश्चये सर्व-विकल्पनिवृत्तौ रज्जुरेवेति चाद्वैतं यथा तथा "नेति नेति" (बृ० उ० ४। ४। २२) इति सर्व-संसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्र-जनितविज्ञानसूर्यालोककृतात्म-विनिश्चयः "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७। २५। २)

'यह रज्जु ही है' ऐसा निश्चय होनेसे सर्पादि विकल्पकी निवृत्ति हो जानेपर जिस प्रकार 'यह रज्जु ही है' ऐसा अद्वैत-भाव हो जाता है उसी प्रकार "नेति-नेति" इस सर्वसंसारधर्मशून्य आत्माका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रसे उत्पन्न हुए विज्ञानरूप सूर्यके प्रकाशसे आत्माका ऐसा निश्चय होता है कि "यह सब आत्मा

''अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'' (बृ० उ० २। ५। १९) ''सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'' (मु० उ० २। १। २) ''अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः'' (बृ० उ० ४। ४। २५) ''एक एवाद्वयः'' इति॥ १८॥

ही है'' ''वह कारण-कार्यसे रहित और अन्तर्बाह्यशून्य है'' ''बाहर-भीतरसे (कार्य-कारण दोनों दृष्टियोंसे) अजन्मा है'' ''वह जराशून्य, अमर, अमृत और अभय है'' तथा ''वह एक अद्वितीय ही है''॥ १८॥



यद्यात्मैक एवेति निश्चयः कथं प्राणादिभिरनन्तैर्भावैरेतैः संसारलक्षणैर्विकल्पित इति, उच्यते, शृणु—

यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा एक ही है तो वह इन संसाररूप प्राणादि अनन्त भावोंसे कैसे विकल्पित हो रहा है? सो इस विषयमें कहा जाता है, सुनो—

विकल्पकी मूल माया है

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम्॥ १९॥

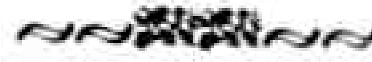
यह जो इन प्राणादि अनन्त भावोंसे विकल्पित हो रहा है सो यह उस प्रकाशमय आत्मदेवकी माया ही है, जिससे कि वह स्वयं ही मोहित हो रहा है॥ १९॥

मायैषा तस्यात्मनो देवस्य। यथा मायाविना विहिता माया गगनमतिविमलं कुसुमितैः सपलाशैस्तरुभिराकीर्णमिव करोति तथेयमपि देवस्य माया ययायं स्वयमपि मोहित इव मोहितो

यह उस आत्मदेवकी माया है। जिस प्रकार मायावीद्वारा प्रयोग की हुई माया अति निर्मल आकाशको पल्लवयुक्त पुष्पित पादपोंसे परिपूर्ण कर देती है उसी प्रकार यह भी उस देवकी माया है जिससे कि यह स्वयं भी मोहित हुएके समान मोहग्रस्त हो रहा है। ''मेरी मायाका पार

भवति। ''मम माया दुरत्यया'' (गीता ७। १४) इत्युक्तम्॥ १९॥

पाना कठिन है'' ऐसा [भगवान्‌ने] कहा भी है॥ १९॥



मूलतत्त्वसम्बन्धी विभिन्न मतवाद

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः॥ २०॥

प्राणोपासक कहते हैं—'प्राण ही जगत्‌का कारण है।' भूतज्ञों-(प्रत्यक्षवादी चार्वाकादि-) का कथन है—'[पृथिवी आदि] चार भूत ही परमार्थ हैं।' गुणोंको जाननेवाले [सांख्यवादी] कहते हैं—'गुण ही सृष्टिके हेतु हैं।' तथा तत्त्वज्ञ (शैव) कहते हैं—'[आत्मा, अविद्या और शिव—ये तीन] तत्त्व ही जगत्‌के प्रवर्तक हैं'॥ २०॥

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः॥ २१॥

पादवेत्ता कहते हैं—'विश्व आदि पाद ही सम्पूर्ण व्यवहारके हेतु हैं।' [वात्स्यायनादि] विषयज्ञ कहते हैं—'शब्दादि विषय ही सत्य वस्तु हैं।' लोकवेत्ताओं-(पौराणिकों-) का कथन है—'लोक ही सत्य हैं।' तथा देवोपासक कहते हैं—'इन्द्रादि देवता ही सृष्टिके सञ्चालक हैं'॥ २१॥

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः॥ २२॥

वेदज्ञ कहते हैं—'ऋगादि चार वेद ही परमार्थ हैं।' याज्ञिक कहते हैं—'यज्ञ ही संसारके आदिकारण हैं।' भोक्ताको जाननेवाले भोक्ताकी ही प्रधानता बतलाते हैं तथा भोज्यके मर्मज्ञ (सूपकारादि) भोज्यपदार्थोंकी ही सारवत्ताका प्रतिपादन करते हैं॥ २२॥

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः॥ २३॥

सूक्ष्मवेत्ता कहते हैं—'आत्मा सूक्ष्म (अणु-परिमाण) है।' स्थूलवादी (चार्वाकादि) कहते हैं—'वह स्थूल है।' मूर्त्तवादी (साकारोपासक) कहते हैं—'परमार्थ वस्तु मूर्तिमान् है।' तथा अमूर्त्तवादियों-(शून्यवादियों-) का कथन है कि वह मूर्त्तिहीन है॥ २३॥

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः॥ २४॥

कालज्ञ (ज्यौतिषी लोग) कहते हैं—'काल ही परमार्थ है।' दिशाओंके जाननेवाले (स्वरोदयशास्त्री) कहते हैं—'दिशाएँ ही सत्य वस्तु हैं।' वादवेत्ता कहते हैं—'[धातुवाद, मन्त्रवाद आदि] वाद ही सत्य वस्तु हैं।' तथा भुवनकोषके ज्ञाताओंका कथन है कि भुवन ही परमार्थ हैं॥ २४॥

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः॥ २५॥

मनोविद् कहते हैं—'मन ही आत्मा है', बौद्धोंका कथन है—बुद्धि ही आत्मा है', चित्तज्ञोंका विचार है—'चित्त ही सत्यवस्तु है;' तथा धर्माधर्मवेत्ता (मीमांसक) 'धर्माधर्मको ही परमार्थ मानते हैं'॥ २५॥

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे॥ २६॥

कोई (सांख्यवादी) पच्चीस तत्त्वोंको, कोई (पातञ्जलमतावलम्बी) छब्बीसोंको और कोई (पाशुपत) इकतीस तत्त्वोंको सत्य मानते हैं* तथा अन्य मतावलम्बी परमार्थको अनन्त भेदोंवाला मानते हैं॥ २६॥

---

* प्रधान, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और मन—ये सांख्यवादियोंके पच्चीस तत्त्व हैं; योगी इनके सिवा छब्बीसवाँ तत्त्व ईश्वर मानते हैं और पाशुपतोंके मतमें इन पच्चीस तत्त्वोंके अतिरिक्त राग, अविद्या, नियति, काल, कला और माया—ये छः तत्त्व और हैं।

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे॥ २७॥

लौकिक पुरुष लोकानुरञ्जनको और आश्रमवादी आश्रमोंको ही प्रधान बतलाते हैं। लिङ्गवादी स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गोंको तथा दूसरे लोग पर और अपर ब्रह्मको ही परमार्थ मानते हैं॥ २७॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा॥ २८॥

सृष्टिवेत्ता कहते हैं—'सृष्टि ही सत्य है', लयवादी कहते हैं—'लय ही परमार्थ वस्तु है' तथा स्थितिवेत्ता कहते हैं—'स्थिति ही सत्य है।' इस प्रकार ये [कहे हुए और बिना कहे हुए] सभी वाद इस आत्मतत्त्वमें सर्वदा कल्पित हैं॥ २८॥

प्राणः प्राज्ञो बीजात्मा तत्कार्यभेदा हीतरे स्थित्यन्ताः। अन्ये च सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता भेदा रज्ज्वामिव सर्पादयः, तच्छून्य आत्मन्यात्मस्वरूपानिश्चयहेतोरविद्यया कल्पिता इति पिण्डीकृतोऽर्थः। प्राणादिश्लोकानां प्रत्येकं पदार्थव्याख्याने फल्गुप्रयोजनत्वात्सिद्धपदार्थत्वाच्च यत्नो न कृतः॥ २८॥

प्राण बीजस्वरूप प्राज्ञको कहते हैं। उपर्युक्त स्थितिपर्यन्त सब विकल्प उसीके कार्यभेद हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंसे परिकल्पित अन्य सब लौकिकधर्म रज्जुमें सर्पके समान उन विकल्पोंसे शून्य आत्मामें आत्मस्वरूपके अनिश्चयके कारण अविद्यासे कल्पना किये गये हैं—यह इन श्लोकोंका समुदायार्थ है। प्राणादि श्लोकोंके प्रत्येक पदार्थके व्याख्यानका अत्यन्त अल्प प्रयोजन होनेके कारण तथा वे सिद्ध पदार्थ हैं—इसलिये प्रयत्न नहीं किया॥ २८॥



किं बहुना—

अधिक क्या?—

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति।
तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रहः समुपैति तम्॥ २९॥

[गुरु] जिसे जो भाव दिखला देता है वह उसीको आत्मस्वरूपसे देखने लगता है तथा इस प्रकार देखनेवाले उस व्यक्तिकी वह भाव तद्रूप होकर रक्षा करने लगता है। फिर उस-(भाव-)में होनेवाला अभिनिवेश उस-[के आत्मभाव-]को प्राप्त हो जाता है॥ २९॥

प्राणादीनामन्यतममुक्तमनुक्तं वान्यं भावं पदार्थं दर्शयेद्यस्याचार्योऽन्यो वाप्त इदमेव तत्त्वमिति स तं भावमात्मभूतं पश्यत्ययमहमिति वा ममेति वा। तं च द्रष्टारं स भावोऽवति यो दर्शितो भावोऽसौ भूत्वा रक्षति। स्वेनात्मना सर्वतो निरुणद्धि। तस्मिन्ग्रहस्तद्ग्रहस्तदभिनिवेशः। इदमेव तत्त्वमिति स तं ग्रहीतारमुपैति। तस्यात्मभावं निगच्छतीत्यर्थः॥ २९॥

जिसका आचार्य अथवा कोई अन्य आप्त पुरुष जिसे प्राणादिमेंसे किसी कहे हुए अथवा किसी बिना कहे हुए अन्य भावको भी 'यही परमार्थतत्त्व है' इस प्रकार दिखा देता है वह उसी भावको आत्मभूत हुआ देखता है [और समझता है कि—] 'मैं यही हूँ' अथवा 'यही मेरा स्वरूप है'। तथा उस द्रष्टाकी भी, जो भाव उसे दिखलाया गया है, तद्रूप होकर रक्षा करता है; अर्थात् उसे सब प्रकार अपने स्वरूपसे निरुद्ध कर देता है। उसी भावमें जो ग्रह—आग्रह अर्थात् 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका अभिनिवेश है वह उस भावके ग्रहण करनेवालेको प्राप्त होता है, अर्थात् उसके आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है॥ २९॥

आत्मा सर्वाधिष्ठान है ऐसा जाननेवाला ही परमार्थदर्शी है

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः॥ ३०॥

[इस प्रकार सबका अधिष्ठान होनेके कारण] इन प्राणादि अपृथग् भावोंसे [पृथक् न होनेपर भी अज्ञानियोंद्वारा] यह आत्मा भिन्न ही माना गया है। इस बातको जो वास्तविकरूपसे जानता है वह निःशंक होकर [वेदार्थकी] कल्पना कर सकता है॥ ३०॥

एतैः प्राणादिभिरात्मनोऽपृथग्भूतैरपृथग्भावैरेष आत्मा रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितोऽभिलक्षितो निश्चितो मूढैरित्यर्थः। विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्यभिप्रायः "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २। ४। ६, ४। ५। ७) इति श्रुतेः।

रज्जुमें कल्पित सर्पादि भावोंसे रज्जुके समान यह आत्मा अपनेसे अपृथग्भूत प्राणादि अपृथग्भावोंसे पृथक् ही है—ऐसा मूर्खोंको लक्षित—अभिलक्षित अर्थात् निश्चित हो रहा है। विवेकियोंकी दृष्टिमें तो "यह जो कुछ है सब आत्मा ही है" इस श्रुतिके अनुसार रज्जुमें कल्पित सर्पादिके समान ये प्राणादि आत्मासे भिन्न हैं ही नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है।

एवमात्मव्यतिरेकेणासत्त्वं रज्जुसर्पवदात्मनि कल्पितानामात्मानं च केवलं निर्विकल्पं यो वेद तत्त्वेन श्रुतितो युक्तितश्च सोऽविशङ्कितो वेदार्थं विभागतः कल्पयेत्कल्पयतीत्यर्थः—इदमेवंपरं वाक्यमदोऽन्यपरमिति। न ह्यनध्यात्मविद्वेदाज्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः। "न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते"

इस प्रकार रज्जुमें कल्पित सर्पके समान जो आत्मामें कल्पित पदार्थोंका आत्माके सिवा असत्यत्व समझता है तथा आत्माको श्रुति और युक्तिसे परमार्थतः निर्विकल्प जानता है वह निःशंक होकर वेदार्थकी 'यह वाक्य इस अर्थका प्रतिपादन करनेवाला है और यह अन्यार्थपरक है' इस प्रकार विभागपूर्वक कल्पना कर सकता है—यह इसका तात्पर्य है। जो अध्यात्मतत्त्वको नहीं जानता वह पुरुष तत्त्वतः वेदोंको भी नहीं जान सकता। "अध्यात्मतत्त्वको न जाननेवाला पुरुष

(मनु० ६ । ८२) इति हि मानवं वचनम् ॥ ३० ॥

किसी भी कर्मफलको प्राप्त नहीं करता'' ऐसा मनुजीका भी वचन है ॥ ३० ॥



द्वैतका असत्यत्व वेदान्तवेद्य है

यदेतदद्वैतस्यासत्त्वमुक्तं युक्तितस्तदेतद्वेदान्तप्रमाणावगत-मित्याह—

यह जो युक्तिपूर्वक द्वैतकी असत्यता बतलायी है वह वेदान्त-प्रमाणसे जानी गयी है—इस आशयसे कहते हैं—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसा गन्धर्व-नगर जाना गया है, उसी प्रकार विचक्षण पुरुषोंने वेदान्तोंमें इस जगत्‌को देखा है ॥ ३१ ॥

स्वप्नश्च माया च स्वप्नमाये असद्वस्त्वात्मिके असत्यौ सद्वस्त्वात्मिके इव लक्ष्येते अविवेकिभिः। यथा च प्रसारित-पण्यापणगृहप्रासादस्त्रीपुंजनपद-व्यवहाराकीर्णमिव गन्धर्वनगरं दृश्यमानमेव सदकस्मादभावतां गतं दृष्टम्, यथा च स्वप्नमाये दृष्टे असद्रूपे, तथा विश्वमिदं द्वैतं समस्तमसद्दृष्टम्।

अविवेकी पुरुषोंद्वारा स्वप्न और माया, जो असद्वस्तुरूप अर्थात् असत्य हैं, सद्वस्तुरूप देखे जाते हैं। जिस प्रकार विस्तृत दूकान, बाजार, गृह, प्रासाद और नगरनिवासी स्त्री-पुरुषोंके व्यवहारसे भरपूर-सा गन्धर्वनगर देखते-ही-देखते अकस्मात् अभावको प्राप्त होता देखा गया है और जिस प्रकार ये स्वप्न और माया असद्रूप देखे गये हैं, उसी प्रकार यह विश्व अर्थात् समस्त द्वैत असत् देखा गया है।

क्वेत्याह—वेदान्तेषु। "नेह नानास्ति किंचन" (क० उ० २। १। ११ बृ० उ० ४। ४। १९) "इन्द्रो मायाभिः" (बृ० उ० २। ५। १९) "आत्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ० उ० १। ४। १७) "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" (बृ० उ० १। ४। १०) 'द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० उ० १। ४। २) "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४। ३। २३) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० ४। ५। १५) इत्यादिषु विचक्षणैर्निपुणतरवस्तुदर्शिभिः पण्डितैरित्यर्थः।

कहाँ देखा गया है? इसपर कहते हैं—वेदान्तोंमें। "यहाँ नाना कुछ नहीं है" "इन्द्रने मायासे" "पहले यह आत्मा ही था" "पहले यह ब्रह्म ही था" "दूसरेसे निश्चय भय होता है" "उससे दूसरा कोई नहीं है" "जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है" इत्यादि वेदान्तोंमें विचक्षण अर्थात् निपुणतर वस्तुदर्शी पण्डितोंद्वारा देखा गया है—यह इसका तात्पर्य है।

"तमःश्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम्। नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्" इति व्यासस्मृतेः॥ ३१॥

"यह जगत् अँधेरे गढ़ेके समान और वर्षाकी बूँदके सदृश नाशप्राय, सुखसे रहित और नाशके अनन्तर अभावको प्राप्त हो जानेवाला देखा गया है"—इस व्याससमृतिसे भी यही बात प्रमाणित होती है॥ ३१॥



परमार्थ क्या है?

प्रकरणार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः। यदा वितथं द्वैतमात्मैवैकः परमार्थतः संस्तदेदं निष्पन्नं भवति

यह (आगेका) श्लोक इस प्रकरणके विषयका उपसंहार करनेके लिये है। जबकि द्वैत असत् है और एकमात्र आत्मा ही परमार्थतः सत् है तो

सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति तदा—

यह निश्चित होता है कि यह सारा लौकिक और वैदिक व्यवहार अविद्याका ही विषय है। उस अवस्थामें—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ ३२॥

न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है—यही परमार्थता है॥ ३२॥

न निरोधः—निरोधनं निरोधः प्रलयः, उत्पत्तिर्जननम्, बद्धः संसारी जीवः, साधकः साधनवान्मोक्षस्य, मुमुक्षुर्मोचनार्थी, मुक्तो विमुक्तबन्धः। उत्पत्तिप्रलययोरभावाद्बद्धादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता।

न निरोध है। निरोधनका नाम निरोध यानी प्रलय है। उत्पत्ति जननको, बद्ध-संसारी जीवको, साधक मोक्षके साधनवालेको, मुमुक्षु मुक्त होनेकी इच्छावालेको और मुक्त बन्धनसे छूटे हुएको कहते हैं। उत्पत्ति और प्रलयका अभाव होनेके कारण ये बद्ध आदि भी नहीं हैं—यही परमार्थता है।

कथमुत्पत्तिप्रलययोरभावः, इत्युच्यते, द्वैतस्यासत्त्वात्। "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २। ४। १४) "य इह नानेव पश्यति" (क० उ० २। १। १०, ११) 'आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७। २५। २) "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (नृसिंहोत्तर० ७) "एक-

उत्पत्ति और प्रलयका अभाव किस प्रकार है? इसपर कहा जाता है—द्वैतकी असत्यता होनेके कारण [इनकी भी सत्ता नहीं है]। "जहाँ द्वैत-जैसा होता है" "जो यहाँ नानावत् देखता है" "यह सब आत्मा ही है" "यह सब ब्रह्म ही है" "एक ही

मेवाद्वितीयम्'' (छा० उ० ६। २। १) ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' (बृ० उ० २। ४। ६, ४। ५। ७) इत्यादिनानाश्रुतिभ्यो द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम्।

सतो ह्युत्पत्तिः प्रलयो वा स्यान्नासतः शशविषाणादेः। नाप्यद्वैतमुत्पद्यते लीयते वा। अद्वयं चोत्पत्तिप्रलयवच्चेति विप्रतिषिद्धम्।

यस्तु पुनर्द्वैतसंव्यवहारः स रज्जुसर्पवदात्मनि प्राणादिलक्षणः कल्पित इत्युक्तम्। न हि मनोविकल्पनाया रज्जुसर्पादिलक्षणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्तिर्वा। न च मनसि रज्जुसर्पस्योत्पत्तिः प्रलयो वा न चोभयतो वा। तथा मानसत्वाविशेषाद्द्वैतस्य। न हि नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते।

अतो मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमिति सिद्धम्। तस्मात्सूक्तं द्वैतस्यासत्त्वान्निरोधाद्यभावः परमार्थतेति।

अद्वितीय'' ''यह जो कुछ है सब आत्मा है'' इत्यादि अनेकों श्रुतियोंसे द्वैतकी असत्यता सिद्ध होती है।

उत्पत्ति अथवा प्रलय सत्‌की ही हो सकती है, शशशृङ्गादि असद्वस्तुकी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अद्वैत वस्तु भी उत्पन्न या लीन नहीं होती। जो अद्वय हो वह उत्पत्ति-प्रलयवान् भी हो—यह तो सर्वथा विरुद्ध है।

इसके सिवा जो प्राणादिरूप द्वैतव्यवहार है वह रज्जुमें सर्पके समान आत्मामें ही कल्पित है—यह बात पहले कही जा चुकी है। रज्जुसर्पादिरूप मनोविकल्पकी भी रज्जुमें उत्पत्ति या प्रलय नहीं होती। रज्जुसर्पकी उत्पत्ति या प्रलय न तो मनमें ही होती है और न [मन और रज्जु] दोनोंहीमें। इसी प्रकार द्वैतका मनोमयत्व भी समान ही है, क्योंकि मनके समाहित अथवा सुषुप्त हो जानेपर द्वैतका ग्रहण नहीं होता।

अतः यह सिद्ध हुआ कि द्वैत मनकी कल्पनामात्र है। इसलिये यह ठीक ही कहा है कि द्वैतकी असत्यता होनेके कारण निरोधादिका अभाव ही परमार्थता है।

शून्यवादाशङ्का तन्निवर्त्तनञ्च

यद्येवं द्वैताभावे शास्त्रव्यापारो नाद्वैते विरोधात्। तथा च सत्यद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावाच्छून्यवाद-प्रसङ्गः, द्वैतस्य चाभावात्।

न; रज्जुसर्पादिविकल्पनाया निरास्पदत्वानुपपत्तिरिति प्रत्युक्त-मेतत्कथमुज्जीवयसीत्याह— रज्जुरपि सर्पविकल्पस्यास्पदभूता विकल्पितैवेति दृष्टान्तानुपपत्तिः।

न, विकल्पनाक्षयेऽविकल्पित-स्याविकल्पितत्वादेव सत्त्वोप-पत्तेः। रज्जुसर्पवदसत्त्वमिति चेत्? न; एकान्तेनाविकल्पितत्वा-दविकल्पितरज्ज्वंशवत्प्राक् सर्पाभावविज्ञानात्। विकल्पयितुश्च

पूर्व०—यदि ऐसा है तो शास्त्रका व्यापार द्वैतका अभाव प्रतिपादन करनेमें ही है, अद्वैत-बोधमें नहीं; क्योंकि इससे विरोध आता है।* ऐसी अवस्थामें अद्वैतके वस्तुत्वमें कोई प्रमाण न होनेके कारण शून्यवादका प्रसंग उपस्थित हो जाता है; क्योंकि द्वैतका तो अभाव ही है।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि रज्जु-सर्पादि विकल्पका निराधार होना सम्भव नहीं है—इस प्रकार पहले निराकरण कर दिये जानेपर भी इसी शंकाको फिर क्यों उठाता है? इसपर [शून्यवादी] कहता है—'सर्पभ्रमकी अधिष्ठानभूता रज्जु भी कल्पिता ही है। इसलिये यह दृष्टान्त ठीक नहीं है।'

सिद्धान्ती—नहीं, कल्पनाका क्षय हो जानेपर अविकल्पित आत्माकी सत्ता उसके अविकल्पितत्वके कारण ही सम्भव हो सकती है। यदि कहो कि रज्जु-सर्पके समान उसकी असत्ता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह अविकल्पित रज्जु-अंशके समान सर्पाभावके विज्ञानके पहलेसे ही सर्वथा अविकल्पित रूपसे विद्यमान है। इसके सिवा, जो विकल्पना करनेवाला होता है उसे विकल्पकी

* क्योंकि द्वैतका अभाव प्रतिपादन करनेसे ही यह नहीं समझा जा सकता कि शास्त्रको अद्वैतकी सत्ता अभीष्ट है।

प्राग्विकल्पनोत्पत्तेः

सिद्धत्वाभ्युपगमादसत्त्वानुपपत्तिः।

कथं पुनः स्वरूपे व्यापाराभावे शास्त्रस्य द्वैतविज्ञाननिवर्तकत्वम्?

नैष दोषः। रज्ज्वां सर्पादिवदात्मनि द्वैतस्याविद्याध्यस्तत्वात्। कथम्? सुख्यहं दुःखी मूढो जातो मृतो जीर्णो देहवान् पश्यामि व्यक्तोऽव्यक्तः कर्ता फली संयुक्तो वियुक्तः क्षीणो वृद्धोऽहं ममैत इत्येवमादयः सर्व आत्मन्यध्यारोप्यन्ते। आत्मैतेष्वनुगतः सर्वत्राव्यभिचारात्। यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः।

यदा चैवं विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य सिद्धत्वान्न कर्तव्यत्वं शास्त्रेण। अकृतकर्तृ च शास्त्रं कृतानुकारित्वेऽप्रमाणम्। यतोऽविद्याध्यारोपित-

उत्पत्तिसे पहले ही विद्यमान स्वीकार करनेके कारण उसकी असत्ता नहीं मानी जा सकती।

पूर्व०—किन्तु आत्मस्वरूपमें प्रमाणकी गति न होनेपर भी शास्त्र द्वैतविज्ञानका निवर्त्तक कैसे है?

सिद्धान्ती—[यहाँ] यह दोष नहीं है, क्योंकि रज्जुमें सर्पादिके समान आत्मामें अविद्याके कारण द्वैतका अध्यास है। किस प्रकार?—'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मूढ़ हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ, मरा हूँ, जराग्रस्त हूँ, देहधारी हूँ, देखता हूँ, व्यक्त हूँ, अव्यक्त हूँ, कर्ता हूँ, फलवान् हूँ, संयुक्त हूँ, वियुक्त हूँ, क्षीण हूँ, वृद्ध हूँ, ये मेरे हैं'—इत्यादि प्रकारके सम्पूर्ण विकल्प आत्मामें आरोपित किये जाते हैं तथा आत्मा इनमें अनुस्यूत है, क्योंकि उसका कहीं भी व्यभिचार नहीं है, जैसे कि सर्प और धारा आदि भेदोंमें रज्जु।

जब कि ऐसी बात है तो विशेष्यरूप ब्रह्मके स्वरूपकी प्रतीति सिद्ध होनेके कारण उसके सम्बन्धमें शास्त्रको कुछ कर्त्तव्य नहीं है। शास्त्र तो असिद्ध वस्तुको सिद्ध करनेवाला है; सिद्ध वस्तुका अनुवाद करनेसे वह प्रमाण नहीं माना जाता। क्योंकि अविद्यासे आरोपित

सुखित्वादिविशेषप्रतिबन्धादेवात्मनः स्वरूपेणानवस्थानं स्वरूपावस्थानं च श्रेय इति सुखित्वादिनिवर्तकं शास्त्रम् आत्मन्यसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन नेति नेत्यस्थूलादिवाक्यैः। आत्मस्वरूपवदसुखित्वाद्यपि सुखित्वादिभेदेषु नानुवृत्तोऽस्ति धर्मः। यद्यनुवृत्तः स्यान्नाध्यारोपित-सुखित्वादिलक्षणो विशेषः। यथोष्णत्वगुणविशेषवत्यग्नौ शीतता। तस्मान्निर्विशेष एवात्मनि सुखित्वादयो विशेषाः कल्पिताः। यत्त्वसुखित्वादिशास्त्रमात्मन-स्तत्सुखित्वादिविशेषनिवृत्त्यर्थ-मेवेति सिद्धम्। ''सिद्धं तु निवर्तकत्वात्'' इत्यागमविदां सूत्रम्॥ ३२॥

सुखित्व आदि विशेष प्रतिबन्धकोंके कारण ही आत्माकी स्वरूपसे स्थिति नहीं है और स्वरूपसे स्थिति ही श्रेय है; इसलिये 'नेति-नेति' और 'अस्थूलम्' आदि वाक्योंसे आत्मामें असुखित्वादिकी प्रतीति करानेके द्वारा शास्त्र [उसमें आरोपित] सुखित्व आदिकी निवृत्ति करनेवाला है। आत्मस्वरूपके समान असुखित्व आदि भी सुखित्व आदि भेदोंमें अनुवृत्त धर्म नहीं है। यदि वह भी अनुवृत्त होता तो उसमें सुखित्व आदिरूप विशेष धर्मका आरोप नहीं किया जा सकता था, जिस प्रकार कि उष्णत्वधर्मविशिष्ट अग्निमें शीतत्वका आरोप नहीं किया जा सकता। अतः सुखित्वादि विशेष निर्विशेष आत्मामें ही कल्पना किये गये हैं। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माके विषयमें जो असुखित्व आदि शास्त्र है वह सुखित्व आदि विशेषकी निवृत्तिके ही लिये है। शास्त्रवेत्ताओंका सूत्र भी है—''[सुखित्व आदि धर्मोंका] निवर्त्तक होनेसे [अस्थूलम् आदि] शास्त्रकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है''॥ ३२॥



अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह—

पूर्व श्लोकके अर्थका हेतु बतलाते हैं—

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा॥ ३३॥

यह (आत्मतत्त्व) प्राणादि असद्भावोंसे और अद्वैतरूपसे कल्पित है। वे असद्भाव भी अद्वैतसे ही कल्पना किये गये हैं। इसलिये अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है॥ ३३॥

यथा रज्ज्वामसद्भिः सर्पधारादिभिरद्वयेन च रज्जुद्रव्येण सतायं सर्प इयं धारा दण्डोऽयमिति वा रज्जुद्रव्यमेव कल्प्यत एवं प्राणादिभिरनन्तैरसद्भिरेवाविद्यमानैः, न परमार्थतः—न ह्यप्रचलिते मनसि कश्चिद्भाव उपलक्षयितुं शक्यते केनचित्; न चात्मनः प्रचलनमस्ति; प्रचलितस्यैवोपलभ्यमाना भावा न परमार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्याः—अतोऽसद्भिरेव प्राणादिभावैरद्वयेन च परमार्थसतात्मना रज्जुवत्सर्वविकल्पास्पदभूतेनायं स्वयमेवात्मा कल्पितः; सदैकस्वभावोऽपि सन्।

जिस प्रकार रज्जुमें अविद्यमान सर्प धारा आदि भावोंसे तथा विद्यमान अद्वितीय रज्जुद्रव्यसे 'यह सर्प है, यह धारा है, यह दण्ड है' इस प्रकार रज्जुद्रव्य ही कल्पना किया जाता है, उसी प्रकार प्राणादि अनन्त असत्—अविद्यमान अर्थात् जो परमार्थतः नहीं हैं, [उन भावोंसे आत्मा विकल्पित हो रहा है]—क्योंकि चित्तके चलायमान न होनेपर किसीके द्वारा कोई भाव उपलक्षित नहीं हो सकता और आत्मामें प्रचलन है नहीं; तथा केवल चलायमान चित्तमें ही उपलब्ध होनेवाले भाव परमार्थतः सत्य हैं—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः यह आत्मा, स्वयं एकमात्र सत्स्वभाव होनेपर भी असत्स्वरूप प्राणादि भावोंसे तथा रज्जुके समान सब प्रकारके विकल्पके आश्रयभूत परमार्थ सत् आत्मस्वरूपसे कल्पित है।

ते च प्राणादिभावा अप्यद्वयेनैव सतात्मना विकल्पिताः। न हि निरास्पदा काचित्कल्पनोपलभ्यते;

वे प्राणादि भाव भी अद्वय सत्स्वरूप आत्मासे ही कल्पना किये गये हैं, क्योंकि कोई भी कल्पना निराधार नहीं

अतः सर्वकल्पनास्पदत्वा-त्स्वेनात्मनाद्वयस्याव्यभिचारा-त्कल्पनावस्थायामप्यद्वयता शिवा। कल्पना एव त्वशिवाः। रज्जुसर्पादिवत्त्रासादिकारिण्यो हि ताः। अद्वयताभयातः सैव शिवा॥ ३३॥

हो सकती। अतः समस्त कल्पनाकी आश्रयभूता होनेसे और अपने स्वरूपसे अद्वयका कभी व्यभिचार न होनेसे कल्पना अवस्थामें भी अद्वयता ही मङ्गलमयी है। केवल कल्पना ही अमङ्गलमयी है। क्योंकि वह रज्जु-सर्पादिके समान भय आदि उत्पन्न करनेवाली है। अद्वयता अभयरूपा है, इसलिये वही मङ्गलमयी है॥ ३३॥



तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें नानात्वका अत्यन्ताभाव है

कुतश्चाद्वयता शिवा? नाना-भूतं पृथक्त्वमन्यस्यान्यस्माद्यत्र दृष्टं तत्राशिवं भवेत्।

और भी अद्वयता क्यों मङ्गलमयी है?—जहाँ एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका नानाभूत पार्थक्य देखा जाता है वहीं अमङ्गल हो सकता है। [किन्तु—]

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन।
न पृथङ् नापृथक्किंचिदिति तत्त्वविदो विदुः॥ ३४॥

यह नानात्व न तो आत्मस्वरूपसे है और न अपने ही स्वरूपसे कुछ है। कोई भी वस्तु न तो ब्रह्मसे पृथक् है और न अपृथक् ही—ऐसा तत्त्ववेत्ता जानते हैं॥ ३४॥

न ह्यत्राद्वये परमार्थसत्यात्मनि प्राणादिसंसारजातमिदं जगदात्म-भावेन परमार्थस्वरूपेण निरूप्यमाणं नाना वस्त्वन्तरभूतं भवति। यथा रज्जुस्वरूपेण प्रकाशेन

इस अद्वितीय परमार्थ सत्य आत्मामें यह प्राणादि संसारजातरूप जगत् आत्मभावसे—परमार्थ सत्यरूपसे निरूपण किये जानेपर नाना अर्थात् पृथक् वस्तुके अन्तर्भूत नहीं रहता। जिस प्रकार प्रकाशद्वारा रज्जुरूपसे निरूपित

निरूप्यमाणो न नानाभूतः कल्पितः सर्पोऽस्ति तद्वत्। नापि स्वेन प्राणाद्यात्मनेदं विद्यते कदाचिदपि रज्जुसर्पवत् कल्पितत्वादेव।

तथान्योन्यं न पृथक्प्राणादि वस्तु यथाश्वान्महिषः पृथग्विद्यत एवम्। अतोऽसत्त्वान्नापृथग्विद्यते अन्योन्यं परेण वा किंचिदिति एवं परमार्थतत्त्वमात्मविदो ब्राह्मणा विदुः। अतोऽशिवहेतुत्वाभावादद्वयतैव शिवेत्यभिप्रायः॥ ३४॥

होनेपर कल्पित सर्प पृथक्-रूपसे नहीं रहता उसी प्रकार [परमार्थरूपसे निरूपण किया जानेपर जगत् आत्मासे पृथक् वस्तु नहीं ठहरता]; और न यह, रज्जु-सर्पके समान कल्पित होनेके कारण ही, अपने प्राणादिस्वरूपसे कभी कुछ रहता है।

तथा जिस प्रकार घोड़ेसे भैंस पृथक् है उस प्रकार प्राणादि वस्तु आपसमें भी पृथक् नहीं हैं। इसीलिये असद्रूप होनेसे आपसमें अथवा किसी अन्यसे कोई वस्तु अपृथक् भी नहीं है—ऐसा आत्मज्ञ ब्राह्मणलोग परमार्थतत्त्वको जानते हैं। अतः अमङ्गलकी हेतुताका अभाव होनेसे अद्वयता ही मङ्गलमयी है—यह इसका तात्पर्य है॥ ३४॥



इस रहस्यके साक्षी कौन थे?

तदेतत्सम्यग्दर्शनं स्तूयते—

अब इस सम्यग्ज्ञानकी स्तुति की जाती है—

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः॥ ३५॥

जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं उन वेदके पारगामी मुनियोंद्वारा ही यह निर्विकल्प प्रपञ्चोपशम अद्वय तत्त्व देखा गया है॥ ३५॥